

भगवानश्रीकुन्दकुन्द-कहान जैनशास्त्रमाला

पुष्प-२५

वस्तुविज्ञानसार

अध्यात्मयोगी पूज्य श्री कानजी स्वामी के
प्रवचन



अनुवादक
पंडित परमेष्ठीदास जैन
- न्यायतीर्थ -

प्रस्तावना

यथाय वस्तुविज्ञान का रहस्य प्राप्त किये बिना चाहे जितना प्रयत्न किया जाय चाहे जितना मन नियम तप, त्याग वैराग्य, भक्ति और शास्त्राभ्यास किया जाये तो भी जीव का एक भी मव-कम नहीं होता। इसलिये इस मनुष्यभर में जीव का सुख कर्तव्य यथायतया वस्तुविज्ञान प्राप्त करलना है। वीतराग सर्वज्ञ द्वारा स्वयं प्रत्यक्ष जानकर उपदिष्ट वस्तुविज्ञान विज्ञान है और यह मनक भागों में विस्तृत है। मनक भागों के अभ्यासों से प्रायः उस वस्तुविज्ञान का वास्तविक रहस्य नहीं निकाला जाते, इसलिये उस विज्ञान वस्तुविज्ञान का रहस्यमूल सार इस पुस्तक में (वस्तु विज्ञानसार में) दिया गया है।

इस पुस्तक में निम्नलिखित रहस्यमूल विषयों को विरोध स्पष्ट किया गया है

विरव का प्रत्येक पदार्थ सामान्य विरोधात्मक है। सामान्य स्वयं ही विरोध रूप से परिणमित होता है। विरोध रूप से परिणमित होने में अन्य किसी भी पदार्थ की उसे वास्तव में किंचित् मात्र भी सहायता आवश्यक नहीं होती। पदार्थ मात्र निरपेक्ष है।

न्य प्रकार सर्व स्वतंत्र ज्ञान पर भी विरवमें मन्धकार नहीं प्रकार है
 अकस्मात् नहीं-न्याय है, इसलिये पुण्यभावरूप विरोध में परिणमित होने वाले जीव द्रव्य को अमुक (अनुकूल कही जानवाली) सामग्री का ही मयाग प्राप्त होता है पाप भाव रूप विरोध में परिणमित होतवाले जीव द्रव्य को अमुक (प्रतिकूल कही जान वाली) सामग्री का ही मयोग होता है शुद्धभाव रूप विरोध में परिणमित होने वाले जीव द्रव्य के कर्मादिक संयोग का अभाव ही होता है -इत्यादि अनदानेक प्रकार का सहज निमित्त नैमित्तिक अभाव ही होता है -इत्यादि अनदानेक प्रकार का सहज निमित्त नैमित्तिक अभाव ही होता है। निमित्त नैमित्तिक अभाव ही होता है।

प्रवर्तमान पदार्थों में तेज मात्र भी परमेश्वरता नहीं है, जब अपने अपने विरोधा में ही स्वतंत्रता एवं स्वायत्तता में परिणत होने लगे हैं।

ऐसा होने से जीव द्रव्य डेलादि की तिया तो दर ही नहीं सहा, यह मात्र अपने विरोध को ही कर सता है। सर्वत्र विद्यमान स्व विरोध दुःखार्थ है, विपरीत पुरुषार्थ है। जगत के स्वभाव से न्यायगत और नियत प्रत्यक्ष और यह निर्णय करके कि—पर में अपना कोई कार्य नहीं है, कि द्रव्य सामान्य की भ्रष्टा रूप से परिणत होकर उनमें लीन हो जानेका जो विरोध है वही सत्त पन्थ है, नहीं परम पुनर्था है। मरणादि को पर पशों का परिवर्तन कर सकने में ही पुरुषार्थ नाहित होता है, सर्वत्र विद्यमानों की तरंगों में ही पुरुषार्थ प्रतीत होता है, परन्तु जिनमें विद्यमान के सर्व भावों की नियतता का निर्णय गर्मित है एसी द्रव्य सामान्य की भ्रष्टा करके उसमें एक जाने का जो यथार्थ परम पुरुषार्थ है, वह उनके ज्ञान में ही नहीं आता।

और फिर, जीवों ने आगमों में ने उपरोक्त बातों की धारणा भी अनन्त बार करली है, परन्तु सर्व आगमों के सारभूत स्वद्रव्य सामान्य का यथार्थ निर्णय करके उसका रुचिरूप परिणमन नहीं किया। यदि उन रूप परिणमन किया होता तो ससार में परिभ्रमण नहीं होता।

ऐसी वस्तुविज्ञान की अनेक परम हितकारक, रहस्यभूत, साररूप बातें इस पुस्तक में स्पष्टतया समझाई गई हैं, इसलिये इस पुस्तक का नाम 'वस्तुविज्ञान सार' रखा गया है। परम पूज्य अध्यात्मयोगी श्री कानजी स्वामी सोनगढ में मुमुक्षुओं के समक्ष सदा जो आध्यात्मिक प्रवचन करते हैं उनमें से वस्तु विज्ञान के सारभूत कुछ प्रवचन इस पुस्तक में प्रकाशित किये गये हैं। जो मुमुक्षु इनमें कथित विज्ञानमार का अभ्यास करके, चिंतन करके निर्वाण युक्तिरूप प्रयोग से सिद्ध करके, निर्णीत करके चैतन्य सामान्य की रुचिरूप परिणमन होकर उसमें लीन होने से अदृश्य वास्तव-परमज्ञान-रूप का प्राप्त होंगे।

जो जीव शारीरिक क्रियाकार में या बाह्य प्रवृत्तियों में धर्म का बंध भी मानते हों जो वैराग्य भक्ति आदि शुभभावों में धर्म मानते हों, जो शुभभाव में धर्म को विहितमात्र कारण मानते हों, और जो जीव निश्चय क बिना ही शास्त्रों की मात्र धारणा से विहित धर्म मानते हों वे सभी प्रकार के जीव इस पुस्तक में कहे गये परम प्रयोजनमूल भावों को जिना सुभाष से गतिपूर्वक गम्भीरतया विचार करें और अनन्त काल से चली आनवाली मूलमूल मूल कितनी सुदम है, तथा यह किस प्रकार के अपूर्व परम सम्यक् पुरुषाथ को चाहती है, यह समझकर निज कल्याण करें। इसीमें मानव जीवन की सफलता है।

रामजा माणिकचंद दोशा

मगधिर युक्ता

अध्यक्ष,

पूरुषिमा

७७

श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

वीर सवत् २४७४

सोनगढ (काठियावाड़)

विषयसूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१.	अनन्त पुरुषार्थ	१ से ३३
२.	आत्मस्वरूप की यथार्थ समझ सुलभ है	३४ से ३६
३.	उपादान निमित्त की स्वतन्त्रता	३७ से ७२
४.	क्रिया	७३ से ७८
५.	व्यवहारनय के पक्ष के सूक्ष्म आशयका स्वरूप और उसे दूर करने का उपाय	७९ से ९२
६.	श्रुतपंचमी (ज्ञान की स्वाधीनता और अंश में पूर्ण की प्रत्यक्षता)	९३ से १०५
७.	द्रव्यदृष्टि	१०६ से १०७

वस्तुविज्ञानसार

अध्यात्मयोगी पूज्य श्री
कानजी स्वामी के प्रवचन

अनन्त पुरुषार्थ

‘ वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध ही होती है तथापि पुरुषार्थ के बिना शुद्ध पर्याय प्रगट नहीं होती ’ मुख्यतया इसी सिद्धान्त पर यह प्रवचन है। इस प्रवचन में निम्न लिखित विषयों का स्वरूपका स्पष्टीकरण हाजाता है —

१- पुरुषार्थ, २- सम्यग्दर्श की धर्मभावना, ३- सर्वज्ञ की यथार्थ श्रद्धा, ४- द्रव्य दृष्टि, ५- जट और चेतन पदार्थों की क्रमबद्ध पर्याय, ६- उपादान निमित्त, ७- द्रव्य गुण पर्याय, ८- सम्यग्दर्शन, ९- कर्तृत्व और ज्ञातृत्व, १०- साधक दशा, ११- क्रम में उत्तीरणा इत्यादि का प्रकार १२- मुक्ति की निमन्दह प्रतिध्वनि, १३- सम्यग्दर्श और मिथ्यादर्श, १४- अनेकान्त और एकान्त, १५- पांच समग्रय, १६- अग्नि-नाम्नि, १७- निमित्त-नैमित्तिक संबंध, १८- निश्चय व्यवहार, १९- आत्मज्ञ और सर्वज्ञ, २०- निमित्त की उपस्थिति हान पर भी निमित्त का बिना काय होता है।

ऐसे अनन्त परलुओं से-प्रफारान्तर से जारनार स्वतंत्र पुरुषार्थ का सिद्ध विद्या है, और इस प्रकार पुरुषार्थस्वभावी आत्मा की पहचान कराइ है। जिज्ञासुजन इस प्रवचन के रहस्य को समझकर आत्मा के स्वतंत्र मृत्यु पुरुषार्थ की पहचान कर का उम और उन्मुक्त हो, यही भावना है। —रम्पादक।

स्वामि कार्तिकेय आचार्यने तीन गाथाओं में यह बताया है कि सम्यग्दृष्टि जीव वस्तुस्वरूप का कैसा चिंतवन करते है, तथा किस प्रकार पुरुषार्थ की भावना करते है। यह विशेष ज्ञातव्य है, इस लिये यहाँ उगका वर्णन किया जा रहा है। वे मूल गाथायें इस प्रकार हैं—

ज जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि ।

णादं जिणेण णियद जम्मं वा अहव मरणं वा ॥ ३२१ ॥

त तरस तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि ।

का सकइ चालेदु इदो वा अह जिण्णिदोया ॥ ३२२ ॥

अर्थः—जिस जीवको जिस देगमे जिस काल में त्रिन त्रिवि से जन्म-मरण सुख-दुःख तथा रोग और दारिद्र्य इत्यादि जैसे मर्तल देवने जाने है उसी प्रकार वे सब नियम से होंगे। सर्वज्ञदेव ने जिस प्रकार जाना है उसी प्रकार उस जीव के उसी देग में उसी काल में और उसी त्रिवि से निजम पूर्वक सब होता है। उसके निवारण करने के लिए इन्द्र या जिनेन्द्र तीर्थकर देव कोई भी समर्थ नहीं है।

भावार्थः—सर्वज्ञदेव समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अवस्थाओं को जानते है। सर्वज्ञ के ज्ञानमें जो कुछ प्रतिभासित हुआ है, वह सब निश्चय से होता है, उसमें हीनाधिक कुछ भी नहीं होता। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि विचार करता है। (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पृष्ठ १२५)

इस गाथा मे यह बताया है कि सम्यग्दृष्टि की धर्मानुप्रेक्षा कैसी होती है। सम्यग्दृष्टि जीव वस्तु के स्वरूप का किस प्रकार चिंतवन करता है यह बात यहाँ बताई है। सम्यग्दृष्टि की यह भावना दुःख मे धीरज दिलाने के लिये अथवा भूटा आशासन देने के लिये नहीं है, किन्तु जिनेन्द्र देव के द्वारा देखा गया वस्तुस्वरूप जिस प्रकार है उसी प्रकार स्वयं चिंतवन करता है। वस्तुस्वरूप ऐसा ही है, यह कोई चल्पना नहीं है यह धर्म की बात है। 'जिस काल में जो होने वाली अवस्था सर्वज्ञ भगवान ने देखी है उस काल में वही अवस्था होती है, दूसरी नहीं होती।' इस में एकान्तवाद या

नियतगद नहीं है किन्तु सच्चा अनेकान्तवाद और सर्वज्ञता का भावना तयः
ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ निहित है ।

आत्मा सामान्य-विशेषस्वरूप पशु है, अनादि अनन्त ज्ञानस्वरूप है ।
उस सामान्य और उस ज्ञान में से समय समय पर जो पर्याय होती है
वह विशेष है । सामान्य स्वयं शब्द रहकर विशेषरूप में परिणमन करता है,
उस विशेष पर्याय में यदि स्वरूप का रूचि करे तो समय समय पर विशेष
में शुद्धता हाता है, और यदि उस विशेष पर्याय में एनी विपरीत रूचि करे
कि जा रागादि व दगादि व वह में है' तो विशेष में अशुद्धता हाती है ।
और यदि स्वरूप का रूचि करे तो शुद्ध पर्याय क्रमवद्ध प्रगट हाती है और
यदि विकार का—पर की रूचि हाती है तो अशुद्ध पर्याय क्रमवद्ध प्रगट
हाती है । चेतन्य को क्रमवद्धपर्याय में अन्तर नहीं पता किन्तु क्रमवद्ध का
एसा नियम है कि जिस और को रूचि करता है उस और को क्रमवद्ध टगा
हाती है । जिस क्रमवद्ध पर्याय की श्रद्धा हाती है उसे द्रव्य का रूचि हाती
है और जिस द्रव्य की रूचि हाती है उसकी क्रमवद्ध पर्याय शुद्ध ही हाती
है, अर्थात् सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान व अनुसार क्रमवद्ध पर्याय ही हाती है ।
उस में कोई अन्तर नहीं पता । इतना निश्चय करने में तो द्रव्यकी और
का अनन्त पुरुषार्थ भाजाता है । यहा पर्याय का क्रम नहीं बदलना है किन्तु
भपनी और रूचि करनी है ।

प्रश्न— जगत के पदार्थों की अनन्त्या क्रमवद्ध हाती है । जन्म अथवा चतन
इत्यादि में एक के बाद दूसरी क्रमवद्ध अवस्था लगी थी और सर्वज्ञ देव न टखी
है उमी के अनुसार अनादि अनन्त समवद्ध हाती है तब फिर इसमें पुरु-
षार्थ करन का बातहा कहा रही ?

उत्तर— मात्र आत्मा का और का ही पुरुषार्थ लिया जाता है तब ही
क्रमवद्ध पर्याय की श्रद्धा हाती है । जिसने अपने आत्मा में क्रमवद्ध पर्याय
का गिणिय किया कि महा ! तब और चतन्य सभा का अनन्त्या क्रमवद्ध
सत्य पुष्ठा बगले है मैं परमें क्या कर सकता हूँ ? मेरा एसा स्वरूप है

कि मात्र जैसा होता है मैं वसा ही जानता हूँ। ऐसे निर्णय में उसे पर की अवस्था में अच्छा घुरा मानना नहीं रह जाता, किन्तु जानृत्त्व ही रहता है, अर्थात् विपरीत मान्यता और अनन्तानुबंधी कषाय का नाश हो जाता है। अनन्त पर द्रव्य के कर्तृत्व का महा भिव्यात्व मात्र दूर हो कर अपने ज्ञाता स्वभावकी अनन्त दृष्टता हो जाती है, और अपनी ओर का ऐसा अनन्त पुरुषार्थ क्रमवद्ध पर्याय की श्रद्धा में आजाता है।

समस्त द्रव्यों की अवस्था क्रमवद्ध होती है। मैं उसे जानता हूँ किन्तु किमी का कुछ नहीं करता, ऐसी मान्यता के द्वारा भिव्यात्व का नाश करके पर से हटकर जीव अपनी ओर झुक्ता है। सर्वज्ञदेव के ज्ञान में जो प्रतिभासित हुआ है उसमें कोई अन्तर नहीं पडता, समस्त पदार्थों की समय समय पर जो अवस्था क्रमवद्ध होती है वही होती है। ऐसे निर्णय में सम्यग्दर्शन भी आजाता है। इस में पुरुषार्थ भिन्न प्रकार आया सो बतलाते हैं।

१-पर की अवस्था उसके क्रमानुसार होती ही रहती है, मैं पर का कुछ नहीं करता, यह निश्चय क्रिया कि सभी पर द्रव्यों का अभिमान दूर होजाता है।

२-विपरीत मान्यता के कारण परकी अवस्था में अच्छा घुरा मानकर जो अनन्तानुबंधी रागद्वेष करता था वह दूर हो गया। इन प्रकार क्रमवद्ध पर्याय की श्रद्धा करनेपर पर द्रव्य के लक्ष से हटकर स्वयं राग-द्वेष रहित अपने ज्ञाता स्वभाव में आगया अर्थात् अपने हित के लिये परमुखापेक्षा रूक गई और ज्ञान अपनी ओर प्रवृत्त हो गया। अपने द्रव्य में भी एक के बाद दूसरी अवस्था क्रमवद्ध होती है। मैं तो तीनों काल की क्रमवद्ध अवस्थाओं का पिंडरूप द्रव्य हूँ, वस्तु तो ज्ञाता ही है, एक अवस्था जितनी वस्तु नहीं है। अवस्था में जो राग द्वेष होता है वह पर वस्तु के कारण नहीं किन्तु वर्तमान अवस्था की दुर्बलता से होता है, उस दुर्बलता को भी देखना नहीं रहा। किन्तु पुरुषार्थ से परिपूर्ण ज्ञाता स्वरूप में ही देखना रहा। उस स्वरूप के लक्ष से पुरुषार्थ की दुर्बलता अल्प काल में दूर जायगी।

क्रमबद्ध पर्याय इन्वय में से आती है पर पदार्थ में से नहीं, तथा एक पर्याय में से दूसरी पर्याय प्रगट नहीं होती, इसलिए अपनी पर्याय के लिए पर्याय का और अथवा पर्याय को देखना नहीं रहा किन्तु मात्र ज्ञाना स्वरूप का ही देखना रहा। जिम्ही ऐसी दगा होनाती है समझना चाहिये कि उसने सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार क्रमबद्ध पर्याय का निणय कर लिया है।

प्रश्न—सर्वज्ञ भगवान ने देखा हो तभी तो आत्मा का रुचि होती है न ?

उत्तर—यह जिसने निश्चय किया कि सर्वज्ञ भगवान सब कुछ जानते हैं ? निम्न सर्वज्ञ भगवान की ज्ञान शक्ति का अपनी पर्याय में निश्चित किया है उसकी पर्याय समार से और राग से हटकर अपने स्वभाव की ओर लग गई है तभी वह सर्वज्ञ का निर्णय करता है। जिसकी पर्याय ज्ञान स्वभाव का ओर होगई है उसे आत्मा की ही रुचि हाती है। निम्न यह यथार्थतया निश्चय किया कि 'अहो ! कर्ली भगवान तीन काल और तीन लोक के ज्ञाना हैं वे अपने ज्ञान में सब कुछ जानते हैं किन्तु किसी का कुछ नहीं करते' उसने अपना आत्मा का ज्ञाना स्वरूप का रूप में मान लिया और उसी तीन काल और तीन लोक के समस्त पदार्थों की कर्तृत्व बुद्धि दूर हो गई है अर्थात् अभिप्राय की अपेक्षा से वह सर्वज्ञ हो गया है। एसा स्वभाव का अनन्त प्रसाद क्रमबद्ध पर्याय का अर्द्धा भ आता है। क्रमबद्ध पर्याय की अर्द्धा नियतनाद नहीं है किन्तु सम्यक् पुरुषार्थ वाद है।

प्रस्तुत द्रव्यों की एक के बाद दूसरी जो अदरया होती है उसका कर्ता स्वयं वही द्रव्य हाता है किन्तु मैं उसका कर्ता नहीं हूँ और न मेरा अवस्था ना कोई अन्य कर्ता है। जिम्हा निमित्त कारण से रागद्वेष नहीं हाते। इस प्रकार निमित्त और रागद्वेष को जानन का मात्र जान की अवस्था रह जानी है वह अवस्था ज्ञाना स्वरूप को ही जाननी है राग का जनना है, और सभी पर को भी जाननी है मात्र जानन ही ज्ञान का

स्वल्प है। जो राग द्वेषता है वह ज्ञान का ज्ञेय है, किन्तु राग उन ज्ञान का स्वल्प नहीं है—गुरु की श्रद्धा में ज्ञान का अनन्त पुरुषार्थ समाविष्ट रहना है। यह समझने के लिये ही आचार्य देव ने यहाँ पर जो गार्थायें देकर वस्तुस्वरूप बतलाया है। सम्यग्दृष्टि को अभी केवलज्ञान नहीं हुआ इसमें पूर्व अपने कवचज्ञान की भावना को करता हुआ वस्तुस्वरूप का विचार करता है। सर्वज्ञता होने पर वस्तुस्वरूप केना ज्ञात होगा इत्यादि चिन्तन करता है।

आत्मा की अग्रस्था कमबद्ध होती है। जब आत्मा की जो अवस्था होती है तब उस अवस्था के लिये अनुकूल निमित्तस्वरूप पर वस्तु स्वयं उपस्थित होती ही है। आत्मा की कमबद्ध पर्याय की जो योग्यता होती हो उसके अनुसार यदि निमित्त न आये तो वह पर्याय कहीं अटक जायेगी सो बात नहीं है। यह प्रश्न ही अज्ञान से परिपूर्ण है कि यदि निमित्त न होगा तो यह कैसे होगा? उपादानस्वरूप की दृष्टि वाले के यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता। वस्तु में अपने कम में जब अवस्था होती है तब निमित्त होता ही है, ऐसा नियम है।

वृष, परमाणुओं की ही प्रकाशमान दशा है, और छाया भी परमाणुओं की काली दशा है। परमाणुओं में जिस समय काली अवस्था होती है उसी समय काली अवस्था उनके द्वारा रच्य होती है, और उन समय सामने दृग्शी वस्तु उपस्थित होती ही है। परमाणु की काली दशा के कम के बदलने के लिये कोई समर्थ नहीं है। वृष में बीच में हाथ रखने पर नीचे जो परछाई पड़ती है वह हाथ के कारण नहीं होती, किन्तु वहाँ के परमाणुओं की ही उस समय कमबद्ध अवस्था काली होती है। अमुक परमाणुओं में दोपहर का तीन बजे काली अवस्था होनी है ऐसा सर्वज्ञदेव ने देखा है और यदि उस समय हाथ न आये तो क्या उन परमाणुओं की ३ बजे होने वाली दशा अटक जायेगी? नहीं, ऐसा बनना ही नहीं। परमाणुओं में ठीक ३ बजे काली अवस्था होनी हो, तो ठीक उन्नी समय हाथ इत्यादि निमित्त

स्वयं उपस्थित होने ही हैं। मरने के बाद ज्ञान में क्या होगा है कि ? उसे प्रसुक्त परमाणुओं की काली अवस्था होनी है और यदि निमित्त का अभाव ज्ञान से अथवा निमित्त के निर्वाह में ज्ञान के कारण वह अवस्था केवल से ही तो मरने का ज्ञान गलत छल्लेगा किन्तु यह असम्भव है। उस समय धन्तु की जो क्रमबद्ध अवस्था हानी होती है, उस समय निमित्त उपस्थित न हो यह ही नहीं सकता। निमित्त होता तो है किन्तु वह कुछ होता नहीं है।

यही पदार्थ का ज्ञान दिया गया है। इसी प्रकार मर जीव का ज्ञान देकर ममभात है। किसी जीव के कल्याण प्रगट ज्ञान ही और मर में वज्रग्रभनाराचमहर्षि ने न हो तो केवलज्ञान रुक जायेगा जमी मान्यता केवल अवश्य एवं पराधीन दृष्टि वाले का है। जैसा केवलज्ञान प्राप्त करने की तैयारी न हो और शरीर में वज्रग्रभनाराचमहर्षि न हो ऐसा कदाहि नहीं सकता। जैसा उपादान स्वयं सज्ज होना निमित्त स्वयं उपस्थित होता ही है। उस समय उपादान काय रूप में परिणत होता है उसी समय दूसरी धन्तु निमित्त रूप उपस्थित हानी है। निमित्त बाद में जाता है जो बात नहीं है। उस समय उपादान का काय होता है उसी समय निमित्त की उपस्थिति भी होती है ऐसा होने पर भी निमित्त—उपादान के काय में किसी भी प्रकार की सहायता, अंग प्रभाव अथवा परिवर्तन नहीं करता। यह नहीं हो सकता है निमित्त न हो। और निमित्त से काय हो जैसा भी नहीं हो सकता। जैसा अथवा जैसा स्वयं मरुकी अपना जो क्रमबद्ध अवस्था एवं हानी होती है तब अनुकूल निमित्त उपस्थित होते हैं। जैसा जो स्वामीन दृष्टि का अर्थ है उसे सम्यग्दृष्टि ही जानता है मिथ्यादृष्टियों का धन्तु की स्वतंत्रता की प्रतीति नहीं हानी, हमत्रिय उनकी शक्ति निमित्त पर जाती है।

अज्ञानी को वस्तुस्थिति का यथावे ज्ञान नहीं है इसलिये धन्तु की अवस्था मया में भका करता है कि यह होगा कैसे ही गया। उसे मरने के लक्ष्य और वस्तु की स्वतंत्रता की प्रतीति नहीं है। ज्ञानी वा धन्तुस्थिति

में अंका नहीं होती । वह जानता है कि जिस काल में जिन वस्तु की जो पर्याय होती है वह उसकी क्रमवद्ध अवस्था है, मैं तो मात्र जानने वाला हूँ । इस प्रकार ज्ञानी को अपने ज्ञानस्वरूप स्वभाव की प्रतीति होती है । इसलिये सर्वज्ञ भगवान के द्वारा जाने गये वस्तुस्वरूप का चिंतन करके वह अपने ज्ञान की भावना को बढ़ाता है कि-जिस समय जो जैसा होता है उसका मैं वैसा ज्ञायक ही हूँ, अपने ज्ञायक स्वरूप की भावना करते करते मेरा केवलज्ञान प्रगट हो जायगा ।

ऐसी भावना केवली भगवान के नहीं होती किन्तु जिसे अभी अल्प रागद्वेष होता है ऐसे चौंथे, पाचवें और छठे गुणस्थान वाले ज्ञानी की धर्म भावना का यह विचार है । इस में यथार्थ वस्तुस्वरूप की भावना है । यह कोई मिथ्या कल्पना या दुःख के आशवासन के लिए नहीं है । सम्यग्दृष्टि किसी भी संयोग-वियोग को आपत्ति का कारण नहीं मानते, किन्तु ज्ञान की अपूर्ण दशा के कारण अपनी दुर्बलता से अल्प रागद्वेष होता है—उस समय सपूर्ण ज्ञान दशा निम्न प्रकार की होती है इस का वे इस तरह चिंतन करते हैं ।

जिस काल में जिस वस्तु की जो अवस्था सर्वज्ञ देव के ज्ञान में ज्ञात हुई है उसी प्रकार क्रमवद्ध अवस्था होगी । भगवान तीर्थंकरदेव भी उसे बदलने में समर्थ नहीं है । देखिये, इसमें सम्यग्दृष्टि की भावना की निःशंकता का कितना बल है । 'भगवान भी उसे बदलने में समर्थ नहीं है,' यह कहने में वास्तव में अपने ज्ञान की निःशंकता ही है । सर्वज्ञदेव मात्र ज्ञाता हैं किन्तु वे किसी भी तरह का परिवर्तन करने में समर्थ नहीं है, तब फिर मैं तो कर ही क्या सकता हूँ ? मैं भी मात्र ज्ञाता ही हूँ । इस प्रकार उसे अपने ज्ञान की पूर्णता की भावना का बल है ।

जिस क्षेत्र में जिस शरीर के जीवन या मरण, सुख या दुःख का संयोग-वियोग जिस विधि से होना है उस में किंचित् मात्र भी अंतर नहीं आ सकता । साप का काटना, पानी में डूबना, अग्नि में जलना इत्यादि

जो सयोग हाना है उसे बलने में कोई भी तीनकाल और तीनलाक में समथ नहीं है। स्मरण रह कि इसम महानतम विद्वान निम्न ह जो कि मात्र पुण्याय के सिद्ध करता ह। तममें स्वामि कार्तिकेय आनाय न बारह भावनाओं का स्वरूप वर्णित किया है। व महा मन्त-मुनि थे व दा हपरें घप पूव हो गये हैं। 'वस्तुस्वस्व' का दृष्टि में रखकर इन शास्त्र में भावनाओं के स्वरूप का वर्णन किया गया ह। यहें 'शास्त्र' मानता जन परम्परा में बहुत प्राचीन माना जाता है। 'स्वामि कार्तिकेय क मन्थ' में श्रीमत् राघवचन्द्र न भी कहा ह कि- 'नमस्कार हा उन स्वामि कार्तिकेय का।' इन महा मन्त-मुनि क कथन में बहुत गहन रहस्य भरा हुआ है।

'जो जिस जीवक' अर्थात् सभी जीवा के नियम यहा नियम है कि नियम जीव को जिस काल म जीवन मरण इत्यादि का कार्य भी मयोग भुग दुख का निमित्त आन धाना है उसमें परिवर्तन कर के लिये इन्द्र नरेन्द्र अथवा विनेन्द्र इत्यादि कोई भी समथ नहीं ह। यह सम्य दृष्टि जीव का यथाय ज्ञान की पूर्ता की भावना का विचार है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा ह उमे अपन वान में लिया जाता ह। किन्तु किसी मयोग क भय से घ्राड लन क नियम यह विचार नहीं है। एत पर्याय में तीन काल और तीनलाक के पदार्थों का ज्ञान इस प्रकार हाता जाय, सम्य दृष्टि जीव तमसा विचार करता ह।

यहा मुख दुख व मयोग की बात की गई है। सयोग के समथ भीतर स्वयं को शुभ या अशुभ भाव होता ह वह आत्मा क दीर्घ का कार्य ह। पुण्याय का दुःखता म राग-द्वेष हाता ह वहाँ मन्थ-दृष्टि अपनी पर्याय की हानता को स्व-लक्ष म जानता है वह य- नहीं मानता कि मयोग क कारण से निज को रागद्वेष हाता ह किन्तु वह य- मानता ह कि ईसा सबद्वेन न देखा ह वसा ही सयोग वियोग मरुत हाता ह। मिथ्या दृष्टि जीव य- मानता ह कि पर मयोग क कारण से निज का रागद्वेष हाता ह इत लिए वह मयोग का बदलना चाहता है उस बीतराग गायन क प्रति श्रद्धा

नहीं है, और उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की भी श्रद्धा नहीं है क्योंकि जो कुछ होता है वह सब सर्वज्ञदेव के ज्ञान के अनुसार होता है फिर भी वह शंका करता है कि ऐसा क्यों कर हुआ ? यदि उसे सर्वज्ञ की श्रद्धा हो तो उसे यह निश्चय करना चाहिए कि जो कुछ सर्वज्ञदेव ने देखा है उसी के अनुसार सब कुछ होता है, और ऐसा होने से यह मान्यता दूर हो जाती है कि संयोग के कारण अपने में रागद्वेष होता है। और यह मान्यता भी दूर हो जाती है कि मैं संयोग को बदल सकता हूँ। जो इन मन्वन्ध में थोड़ा सा भी अन्यथा मानता है, समझना चाहिये कि उसे वीतराग शासन के प्रति थोड़ी भी श्रद्धा नहीं है।

जिस जीव को जिस निमित्त के द्वारा जो अन्न-जल मिलना होता है उस जीव को उसी निमित्त के द्वारा वे ही रज-रूपा मिलेंगे उसमें एक समय मात्र अथवा एक परमाणु मात्र का परिवर्तन करने के लिए कोई समर्थ नहीं है। जीवन भरण सुख दुःख और दरिद्रता इत्यादि जो जब जैसा होने वाला है वैसा ही होगा, उसमें लाख प्रकार की साधनानी करने पर भी किंचित् मात्र परिवर्तन नहीं हो सकता, उसे इन्द्र, नरेन्द्र, अथवा जिनेन्द्र आदि कोई भी बदलने में समर्थ नहीं हैं। इसमें नियतवाद नहीं है किन्तु मात्र ज्ञायरूपन का पुरुषार्थवाद ही है।

‘ जैसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा है वैसा ही होता है, इसमें किंचित् मात्र भी परिवर्तन नहीं होता ’ ऐसी दृढ प्रतीति को नियतवाद नहीं कहते किन्तु यह तो सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा का पुरुषार्थवाद है। सम्यग्दर्शन के बिना यह बात नहीं जमती। पर मैं कुछ नहीं देखना है किन्तु निज में ही देखना है। जिस की दृष्टि मात्र पर पदार्थ पर ही है उसे अज्ञान से गेमा लगता है कि यह तो नियतवाद है, किन्तु यदि स्व-वस्तु की ओर से देखे तो इस में मात्र स्वाधीन तत्त्वदृष्टि का पुरुषार्थ ही भरा हुआ है, वस्तु का परिणामन सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार क्रमवद्ध होता है, जहाँ ऐसा निश्चय निश्चय कि जीव समस्त पर द्रव्यों से उदास हो जाता है और इसलिये उसे स्व-

द्रव्य में ही बरखना हाता है और उनी में सम्यक्त्व पुरुषार्थ आ जाता है ।
 त्म पुण्या में मोक्ष क पांचा समवाय समाविष्ट हो जात ह । इस क्रम
 बद्ध पयाय की श्रद्धा क भाव सबज्ञ भगवान क ज्ञान का अवलंबन करने
 वात है यत् भाव तीनकाल और तीनशक में बदलन पाल नहीं है ।
 यदि सर्वज्ञ का कवलज्ञान गलन हो जाय तो यह भाव बदल, जेकि सर्वथा
 अशक्य ह । जगत जगत ही है यदि जगत क जावो क यह बात नहीं
 पठनी तो इस स क्या ? जा बरतु—स्वप्न सबज्ञद्वय न दग्ग ह वह कभी
 नहीं बरतु सकता । जसा सर्वज्ञद्वय न देखा है वसा ही हाता है इसमें जा
 गवा करता ह वह मिथ्या टि ह । निमित्त और सयाग में मैं परिवर्तन कर सकता
 ह एसा माने वाला सर्वज्ञ क ज्ञान में गवा करता ह, और इसदिय वह
 प्रगट रूप मिथ्या टि भ्रमानी मू है ।

ब्रह्म । इस एक सत्य का समझ लन पर जगत क ममत्त्व द्रव्यो क
 प्रति कितना उदात्तमान भाव हो जाता ह । चाह कम ग्यान का भाव कर या
 अधिक ग्यान का भाव कर किन्तु चिंतन और जा परमाणु माना है उनने
 और व ही परमाणु आयेंगे उनमें से एक भी परमाणु का बदलन में कोई
 जीव समर्थ नहीं है । बस ऐसा जानकर गरीर का और पर का कृत्य हूकर
 ज्ञान स्वभाव की प्रतीति हानी चाहिये । इस मानने में अनन्त वाय बनना
 भार कार्य करता है । पर का कृत्य अन्तरंग स मानता हा, पर में मुग
 बुद्धि हा और कहे कि जा हाता है सो हागा यत् तो शक्यता ह, यह बात
पणी नहीं है । पर अनन्त पर द्रव्या स पृथक् हाकर जीव मात्र स्वाभाव
स मताय मानता ह तय यह बात यथापे पठनी ह । इसकी स्वाटनि में ता सभी
 पर पदावों स हूकर ज्ञान ज्ञान में ही लगता है अथात् मात्र वातराग भाव का
 पुरुषार्थ प्रगट हुमा है । नरन्द्र दव्य भयवा चिन्त्र तीनकाल और तीन
 शक स एक परमाणु का भी बदलन में समर्थ नहीं है । जिसके एमी
 प्रतीति ह वह ज्ञा का भार उमुक्त हुमा ह और उस सम्यक्ज्ञान प्राप्त
 ह, वह अनग ज्ञान की दृष्टा क बन स राग का भाव कय अन्तवात

में ही केवलज्ञान का प्राप्त कर लेगा. क्यों कि यह निश्चय किया हुआ है कि सब कुछ क्रमवद्ध ही होता है इसलिये वह प्रथम ज्ञाता भाव में जानता ही है, ज्ञान की एकाग्रता की कच्चाई के कारण बनेमान में कुछ अपूर्ण जानता है और अल्प राग द्वेष भी होता है. परन्तु मैं तो ज्ञान ही हूँ ऐसी श्रद्धा के बल से सुदृष्ट भी पूर्णता करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा. इसलिये 'मैं तो ज्ञाता स्वल्प हूँ. पर पदार्थों की किया स्वप्न होती है उसका मैं कर्ता नहीं हूँ किन्तु ज्ञाता ही हूँ.' इस प्रकार की यथार्थ श्रद्धा ही केवलज्ञान का प्रगट करने का एक मात्र अर्पण और अफर (अप्रतिहत) उपाय है।

जो कुछ वस्तु में होता है वह सब केवजी जानता है और जो कुछ केवजी ने जाना है वह सब वस्तु में होता है। इस प्रकार ज्ञेय और ज्ञायक का परस्पर मेल—सबध है। यदि ज्ञेय ज्ञायक का मेल न माने और कर्ता कर्म का किंचितमात्र भी मेल माने तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। केवल-ज्ञानी सम्पूर्ण ज्ञायक है, उनके किन्ती भी पदार्थ के प्रति कर्तृत्व या रागद्वेष भाव नहीं होता। सम्यग्दृष्टि के भी ऐसी श्रद्धा होती है कि केवलज्ञानी की तरह मैं भी ज्ञाता ही हूँ, मैं किसी भी वस्तु का कुछ नहीं कर सकता तथा किसी वस्तु के कारण मुझ में कुछ परिवर्तन नहीं होता, यदि अस्थिरता से राग हो जाये तो वह मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार श्रद्धा की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि भी ज्ञायक ही है। जिसने यह माना कि नियम पूर्वक वस्तु की क्रमवद्ध दृश्य होती है वह वस्तु स्वरूप का ज्ञाता है।

हे भाई! यह निश्चयवाद नहीं है, किन्तु अपने ज्ञान में समस्त पदार्थों के नियति (क्रमवद्ध अवस्थाओं) का निर्णय करने वाला पुरुषार्थवाद है। जब कि समस्त पदार्थों की क्रमवद्ध अवस्था होती है तो मैं उसके लिये क्या करूँ? मैं किसी की अवस्था का क्रम बदलने के लिये समर्थ नहीं हूँ। मेरी क्रमवद्ध अवस्था मेरे द्रव्य स्वभाव में से प्रगट होती है, इसलिये मैं अपने द्रव्य स्वभाव में एकाग्र रह कर सब का ज्ञाता ही हूँ—ऐसी स्वभाव-दृष्टि (द्रव्यदृष्टि) में अनंत पुरुषार्थ व्या जाता है।

प्रश्न—जब कि सभी क्रमबद्ध है और उममें जाव काई भी परिवर्तन नहीं कर सक्ता तो फिर जीव में पुरुषार्थ क्यों रहा ?

उत्तर—सब कुछ क्रमबद्ध है, उस नियम में ही जीव का अनन्त पुरुषार्थ समाविष्ट है किन्तु उसमें कोई परिवर्तन करना आत्मा, क पुरुषार्थ का कार्य नहीं है । भगवान् जगत का सब कुछ मात्र जानते ही है किन्तु वे भी कोई परिवर्तन नहीं कर सकते तब क्या उसे भगवान् का पुरुषार्थ परिमित हो गया ? नहीं नहीं, भगवान् का अनन्त अपरिमित पुरुषार्थ अपने ज्ञान में समाविष्ट है । भगवान् का पुरुषार्थ निरम में है पर म नहीं । पुरुषार्थ जीव श्रेय की प्राप्ति है इसलिए उसका कार्य जीव का है । प्राय में हाता है किन्तु जीव क पुरुषार्थ का कार्य पर में नहीं हाता ।

जा यह मानता है कि सर्वज्ञ और कवलगा दशा आत्मा क पुरुषार्थ क बिना हाती है वह निर्यादृष्टि है । शान्ति प्रतिक्षण स्वभाव की पूर्णता के पुरुषार्थ की भावना करता है । अहा ! निर्यादृष्टि का प्रथम स्वभाव प्रकट हो गया है वे कवलगा है उनका ज्ञान में सब कुछ एक ही माय हो जाता है । एनी प्रतीति करन पर स्वयं भी निर्यादृष्टि में वसन बला ही रण ज्ञान क अतिरिक्त पर का कर्तृत्व भयना रागादिक सब कुछ अभिप्राय में न हो रहा गया । एनी निर्यादृष्टि क यज्ञ में ज्ञान की पूर्णता का भावना से यस्तु स्वरूप का चिंतन करना है । यह भावना ज्ञानी का है अज्ञानी निर्यादृष्टि की नहीं है क्योंकि निर्यादृष्टि जीव पर का कर्तृत्व मानता है और कर्तृत्व का मायना यज्ञ जीव ज्ञानत्व की दशा में भवना नहीं कर सकता, क्योंकि कर्तृत्व और ज्ञानत्व का परस्पर विरोध है ।

‘सब भगवान् ने अपने कर्मज्ञान में ज्ञान दत्त है वही हाता है । यदि हम उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकते तो फिर उसमें पुरुषार्थ नहीं रहता’ इस प्रकार जो मानते हैं वे अज्ञान हैं । हे नन्द ! तु निर्यादृष्टि ज्ञान में घात करता है ? अपना ज्ञान में या दूसर का ज्ञान में ? यदि तु अपने ज्ञान में ही ज्ञान करता है तो फिर निर्यादृष्टि ज्ञान नसक कर और ज्ञान

इन्वो की अवस्था का निर्णय कर लिया उस ज्ञान में स्वभाव का निर्णय न हो यह हो ही कैसे सकता है? स्वभाव का निर्णय करने वाले ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ है ।

तुने अपने तर्क में कहा है कि ' सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देगा हो वैसा होता है ' तो वह मात्र घात करने के लिए कहा है— अथवा तुझे सर्वज्ञ के केवलज्ञान का निर्णय है ! पहले तो यदि तुझे केवलज्ञान का निर्णय न हो तो सर्व प्रथम वह निर्णय कर, और यदि तू सर्वज्ञ के निर्णय पूर्वक कहता हो तो सर्वज्ञ भगवान के केवलज्ञान का निर्णय वाले ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ आ ही जाता है । सर्वज्ञ का निर्णय करने में ज्ञान का अनन्त वीर्य कार्य करता है तथापि उमने इन्कार करके न करता है कि क्रमबद्ध पर्याय में पुरुषार्थ कहा रहा । मच तो यह है कि तुझे पूर्ण केवलज्ञान के स्वरूप की ही श्रद्धा नहीं है, और केवलज्ञान का स्वीकार करने या अनन्त पुरुषार्थ तुझमें प्रगट नहीं हुआ । केवलज्ञान का स्वीकार करने में अनन्त पुरुषार्थ का अस्तित्व आ जाता है, तथापि यदि उमने स्वीकार नहीं करता तो कहना होगा कि तू मात्र बाने ही करता है किन्तु तुझे सर्वज्ञ का निर्णय नहीं हुआ । यदि सर्वज्ञ का निर्णय हो तो पुरुषार्थ की ओर भव की शक्ति न रहे । यथार्थ निर्णय हो जाये और पुरुषार्थ न आये यह हो ही नहीं सकता ।

(अनन्त पदार्थों को जानने वाले, अनन्त पदार्थों से परिपूर्ण और भव रहित केवलज्ञान का जिस ज्ञान ने निर्णय किया उस ज्ञान ने अपने पुरुषार्थ के द्वारा निर्णय किया है या बिना ही पुरुषार्थ के ?) जिसने भव रहित केवलज्ञान को प्रतीति में लिया है उमने राग में लिप्त होकर प्रतीति नहीं की किन्तु राग से पृथक् करके अपने ज्ञान स्वभाव में स्थिर होकर भव रहित केवलज्ञान की प्रतीति की है जिस ज्ञान ने ज्ञान में स्थिर होकर भव रहित केवलज्ञान की प्रतीति की है वह ज्ञान स्वयं भव रहित है और इमलिये उस ज्ञान में भव की शक्ति नहीं है । पहले केवलज्ञान की प्रतीति नहीं थी तब

वह अनन्त भव की राका में भूलना रहना था और अन्त प्रतीति होने पर अनन्त भव की राका दूर हो गई है तथा एकाध भव में मोक्ष के लिये ज्ञान निकल हो गया है। उच्च ज्ञान में अनन्त पुरुषार्थ निहित है। इस प्रकार

मन्दा भगवान् ने अन्त केवलज्ञान में ऐसा देखा हो वैसा ही होता है। 'एमी यथाय भद्रा में अन्त भव रहितता का निश्चय समाधि हो जाता है अर्थात् उनमें मोक्ष का पुरुषार्थ भा जाता है। यथाय निर्णय क बन में मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

सभी द्रव्यों की तरह अन्त द्रव्य की अवस्था भी कमजोर ही है। जैसे अन्त द्रव्य की कमजोर पर्याय इस जीव में नहीं होती जैसे ही अन्त जीव का कमजोर पर्याय अन्त द्रव्यों से नहीं होती। अन्त कमजोर पर्याय के स्वभाव की प्रतीति करने पर अन्त द्रव्य स्वभाव में ही उन्मत्त जाता है कि अन्त। जैसी पर्यायों तो मेरे द्रव्य में से ही आती है द्रव्य में रागद्वेष नहीं है काइ पर अन्त मुझे रागद्वेष नहीं करता। पर्याय में जो अन्त रागद्वेष है वह मेरी निवर्तन का कारण है वह निवर्तन भी मेरे अन्त में नहीं है। अन्त होने से अन्त जीव को पर में न उन्मत्त अन्त स्वभाव में ही उन्मत्त रह जाता है, अर्थात् द्रव्यरूप में स्थिर होना रह जाता है। स्वभाव के अन्त में अन्त काल में राग का दूर करने वह केवलज्ञान का अन्त प्रण करेगा। अन्त अन्त का नाम कमजोर पर्याय की भद्रा है अन्त जीव ने ही अन्त को यथायतना जाना है और अन्त जीव स्वभावरूप में साधक हुआ है उन्मत्त फल सेवा दत्त है।

द्रव्य में समय २ पर जो विशेष अन्तवा होती है वह विशेष सामान्य में से ही आती है, सामान्य में से विशेष प्रण होता है इसमें केवल ज्ञान भरा हुआ है। (अन्त क अन्तिक) सामान्य विशेष का यह बात जो का छोड़कर अन्त वहीं भी नहीं है और अन्तिक के अन्तिक अन्त ज्ञान उन्त यथायतना समझ नहीं सकते सामान्य में से विशेष होता है अन्त अन्तान्ति निश्चय करने पर वह अन्तिक अन्त की ओर उन्त जाता है। पर

से मेरी पर्याय नहीं होती, निमित्त से भी नहीं होती, विकल्प से भी नहीं होती और पर्याय में से भी नहीं होती। इन प्रकार सब से तज हटाकर जो जीव मात्र द्रव्य की ओर भुका है उस जीव को ऐसी प्रतीति हो गई है कि सामान्य में से ही विशेष होता है। अज्ञानी ने ऐसी स्वाधीनता की प्रतीति नहीं होती।

भगवान ने जैसा देखा है वैसा ही होता है यह निश्चय करने वाले का वीर्य पर से हटकर निज में स्तम्भित हो गया है। ज्ञान ने निज में स्थिर होकर सर्वज्ञ की ज्ञानशक्ति का और भ्रमन्त द्रव्यो का निर्णय किया है। वह निर्णयरूप पर्याय न तो किसी पर से से आई है और न विकल्प में से भी आई है। किन्तु वह निर्णय की शक्ति द्रव्य में से प्रगट हुई है, अर्थात् निर्णय करने वाले ने द्रव्य को प्रतीति में लेकर निर्णय किया है। ऐसा निर्णय करने वाला जीव ही सर्वज्ञ का मच्छा भक्त है। उसका भुकाव अपने सर्वज्ञ स्वभाव की ओर हुआ है अतः वह कहीं भी न रुक कर अल्प काल में ही संपूर्ण सर्वज्ञ हो जायगा। इससे विरुद्ध अर्थात् कोई द्रव्य छान्य द्रव्य का कुछ कर सकता है, ऐसा जो मानता है वह वास्तव में अपने आत्मा को, सर्वज्ञ के ज्ञान को, न्याय को तथा द्रव्य पर्याय को नहीं मानता।

१—अपना आत्मा पर से भिन्न है तथापि वह पर का कुछ करता है इस प्रकार मानना सो आत्मा को पर रूप मानना है अथवा आत्मा को नहीं मानना ही है। २—वस्तु की अवस्था सर्वज्ञदेव के देखे हुये अनुसार होती है उसकी जगह यह मानना कि मैं उसे बदल सकता हूँ, सर्वज्ञ के ज्ञान को अर्थात् न मानने के समान है। ३—वस्तु की ही क्रमबद्ध अवस्था होती है, वह निमित्त करता है अथवा निमित्त कोई परिवर्तन कर डालना है यह बात कहा रही ? निमित्त पर का कुछ भी नहीं। दरता तथापि जो यह मानता है कि मेरे निमित्त से पर से कोई परिवर्तन होता है वह सबे न्याय को नहीं मानता। ४—द्रव्य की पर्याय द्रव्य में से ही आती है उसकी जगह जो यह मानता है कि पर में से द्रव्य की पर्याय आती

है (अर्थात् जो यह मानता है कि मैं पर की पर्याय का बना हूँ) वह द्रव्य-पर्याय के स्वरूप का ही नहीं मानता । इस प्रकार एक विपरीत मान्यता में अनन्त असत् का सेवन आ जाता है ।

वस्तु में वे क्षमपद पथाय आती - उसमें हमारा कुछ नहीं करता, तथापि उस समय निमित्त अरथ उपस्थित होता है किन्तु निमित्त के द्वारा कोई भी कार्य नहीं होता । निमित्त सहायता करता तो सो मान नहीं है, और न गया ही जाता है कि निमित्त की उपस्थिति न हो । जैसे ज्ञान समस्त वस्तुओं का मात्र जानता है किन्तु किसी का कुछ करता नहीं है वही प्रकार निमित्त मात्र उपस्थित होता है वह उपादान के लिए कार्य असत्, सहायता अथवा प्रेरणा नहीं करता और प्रभाव भी नहीं आता ।

जिस समय निज लक्ष के पुरुषार्थ के द्वारा आत्मा की सम्पन्नता पर प्रयत्न होता है उस समय सधे सब कुछ शक्य निमित्तरूप अवश्य होते हैं ।

प्रश्न—जीव की सम्पन्नता के प्रयत्न होने की तैयारी है और सधे वे, कुछ मात्र न मिले तो क्या सम्पन्नता नहीं होता ?

उत्तर—यह हा ही नहीं सकता कि जीव की तैयारी है और शक्य पर कुछ मात्र न हो । जब उपादान कारण तैयार होता है तब निमित्त कारण तब-गेव आ जाता है किन्तु कोई किसी का काम नहीं होता । उपादान के कारण तब तो निमित्त आता है और न निमित्त के कारण उपादान का कार्य होता है । दोनों स्वरूप से अलग अलग कार्य के फल हैं ।

महा ! वस्तु सितती अन्तर् ? । मनस्य वस्तुओं में अम-वर्तित्व पर ही रहा है, एक के बाद दूसी पथाय आता या अमपद पथाय कहा जा पथाय होती है यह होती ही रहती है । ज्ञानी जीव ज्ञान के रूप में जनता रहता है और अज्ञानी तब फल का निष्पत्ति मान करता है । ने, पर का अविमान करता है उगरी पथाय अमपद हीन परिणित होत है और जो जाता रहता है उगरी ज्ञानरथाय अमपद विविध शहर अन्तर् का प्राप्त हो जाती है ।

वस्तु की अनादि अनन्त समय की पर्यायों में से एक भी पर्याय का क्रम नहीं बढ़ता। अनादि अनन्त काल का जितना समय है - उतनी ही प्रत्येक वस्तु की पर्याय है। पहले समय की पहली पर्याय, दूसरे समय की इसी पर्याय और तीसरे समय की तीसरी पर्याय के क्रम से जितने समय है उतनी ही पर्यायें क्रमवद्ध होती हैं। जिसने ऐसा स्वीकार किया उसकी दृष्टि एक २ पर्याय पर से हटकर अभेद द्रव्य पर हो गई और वह पर से उदास हो गया। यदि कोई यह कहे कि मैं पर की पर्याय बढ़ तो इसका मतलब यह हुआ कि वह वस्तु की अनादि अनन्त काल की पर्यायों में परि-वर्तन करना मानता है, अर्थात् वह वस्तुस्वरूप का विपरीतस्वरूप से मानता है, और इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है।

वस्तु और वस्तु के गुण अनादि अनन्त हैं। अनादि अनन्त काल के जितने समय है उतनी ही उम उम समय की पर्यायें वस्तु से से क्रमवद्ध प्रगट होती हैं। जिस समय की जो पर्याय है उस समय वही पर्याय प्रगट होती है, उल्टी सीधी नहीं होती तथा आगे पीछे भी नहीं होती। पर्याय के क्रम में परिवर्तन करने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है। इस क्रमवद्ध पर्याय के विद्वान्त में केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। यह तो दृष्टि के चिरस्थायी व्यजन है, उन्हें पचाने के लिए श्रद्धा-ज्ञान से अनन्त पुरुषार्थ चाहिये। जब अनादि अनन्त अखंड द्रव्य की प्रतीति में लेते हैं तब क्रमवद्ध पर्याय की श्रद्धा होती है, क्योंकि क्रमवद्ध पर्याय का मूल तो वही है। जो क्रमवद्ध पर्याय की श्रद्धा करता है वह अनादि अनन्त पर्यायों का ज्ञायक और चेत-न्य के केवलज्ञान की प्रतीति वाला हो जाता है ! मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से आती है इस प्रकार द्रव्य की ओर मुकने पर साधक पर्याय में अपूर्णता रहने पर भी उसे अब द्रव्य की ओर ही अनन्त रहा और उनी द्रव्य क वन पर पूर्णता हो जायेगी।

वस्तु का सत्यस्वरूप तो ऐसा ही है, इसे समझ दिना दृष्टार नहीं है, वस्तु का स्वाधीन परिपूर्ण स्वरूप ध्यान में लिए दिन, पर्याय में शान्ति

कहाँ भ आयगी ? यदि मुग्ध-प्रायः चादिये हा ता वह धन्तुस्वरूप जानना पया जिममे मे सुख-दशा प्रगट हो सक ।

अ १ ! मेरा पयाय भी क्रमबद्ध ही जाता है, इस प्रकार जिमने निश्चय किया उम अपन म समभाव—ज्ञाताभाव हा जाता है उमे पयाय का बदलन की आवृत्तता नहीं रहता । किन्तु जो जो पर्यायों जाता है उनका ज्ञाता क रूप में जानन घाता जाता है । जो ज्ञाता क रूप म जानन वाला हाता है उसे परवशान दान म विलम्ब हैमा ? जिमे स्वभाव में समभाव ज्ञान नहीं है । अर्थात् जिमे अपन द्रव्य की क्रमबद्ध दशा की प्रतीति नहीं है उम नाव की रचि पर म जाती है और उसका निपम भाव म-क्रमबद्ध रूप में विकारी पयाय हाता है । नावृत्त का निराव कक जा पयाय होती है वह निपम भाव स है । (निराव है) और निज म दृष्टि कक ज्ञानृत्त के रूप में रचन पर जो पयाय हाता है वह समभाव से क्रमबद्ध निराव शुद्ध हाता जाता है ।

इसम मय कुछ अपना पयाय म ही समाविष्ट हा जाता है । यदि अपना क्रमबद्ध पयाय का स्वदृष्टि से कर ता शुद्ध हा और यदि पर दृष्टि मे कर ता अशुद्ध हो । पर क साथ-समय न रहन पर भी दृष्टि किम और जानी है इस पर क्रमबद्ध पर्याय का आधार है । काइ चीज गभभाव वरन से परवस्तु (दव पात्र गुरु अथवा मणि इत्यादि) को प्राप्त नहीं कर सकता और अशुभ भाव वरन मे काई वस्तु पमा इत्यादि परवस्तु को प्राप्त नहीं कर सकता । जो परवस्तु जिम काल में और किस क्षत्र म प्राप्त हाता है वही वस्तु उम काव और उम क्षत्र में स्वयं मा जाता है । यह आत्मभाव क दायण नहीं आता । वस्तु का समस्त पर्याय अपन क्रमबद्ध नियमासुसर ही हाता है उनमें काइ अंतर नहीं आता । हम समस्त म वस्तु की प्रतीति और परवस्तु का स्वभाव का अनन्त धाय प्रगट हाता है । इसे मानन पर अनन्त चीज परवश्या क कृत्त का लक्षण माय आता है ।

जाते हैं। इनमें सम्बन्धन का ऐसा प्रथम पुनर्वापन भरा हुआ है कि
ऐसा अनन्त काल में कभी भी नहीं किया था।

जैसे आत्मा में नभी पर्याय क्रमवद्ध होती है उन्हीं प्रकार जड़ में भी
जड़ की नभी अवस्था में क्रमवद्ध होती है। कर्म की जो २ अवस्था होती है
उसे आत्मा नहीं करता किन्तु वह परमाणु की क्रमवद्ध पर्याय है। कर्म के
परमाणुओं में उदय, उदीरणादिक जो दम अवस्थाओं (कर्म) के वे भी
परमाणु की क्रमवद्ध दगा है। आत्मा के शुभ परिणाम के कारण कर्म के
परमाणुओं की दगा बरत नहीं गई, किन्तु उन परमाणुओं में ही उस समय
वह दगा होने की योग्यता थी, इसलिये वह दगा हुई है। जीव के पुरुषार्थ
के कारण कर्म की क्रमवद्ध अवस्था में भग नहीं पट जाता। जीव अपनी दशा
में पुरुषार्थ करता है और उस समय कर्म के परमाणुओं की क्रमवद्ध दगा
उपशम, उदीरणदिक स्वयं होती है, परमाणु में उन्हीं अवस्था उन्हीं
योग्यता से, उसके कारण से होती है, किन्तु आत्मा उसका कुछ नहीं करता।

प्रश्न—यदि कर्म उस परमाणु की क्रमवद्ध पर्याय ही है तो फिर जैना
में तो कर्म सिद्धान्त के विपुल ज्ञान भरे पंडे हैं, उनके सम्बन्ध में क्या
समझा जाये ?

उत्तर—हे भाई ! यह सभी शायद आत्मा का ही बताने वाले हैं।
कर्म का जितना वर्णन है उन्का आत्मा के परिणाम के साथ मात्र निमित्त
—नैमित्तिक सम्बन्ध है। आत्मा के परिणाम किस किस प्रकार के होते हैं
यह समझाने के लिये उपचार से कर्म में भेद करके समझाया है।
निमित्त—नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान कराने के लिये कर्म का वर्णन किया है,
किन्तु जड़ कर्म के साथ आत्मा का कर्ता कर्म सम्बन्ध किन्तिन् मात्र भी
नहीं है।

प्रश्न—वध, उदय, उदीरणा, उपजम, अपकर्षण, उत्कर्षण सक्रमण, सत्ता,
निदत्त और निरुचित, ऐसे दस प्रकार के कारण (कर्म की अवस्था के
प्रकार) क्या कहे गये हैं ?

उत्तर—इसमें नी वास्तव में तो अतन्य की ही पहचान कराई गई है। कर्म व जो दस प्रकार बताय है वे आत्मा के परिणामों के प्रकार बतान के लिये ही हैं। आत्मा का पुरुषार्थ वसे दस प्रकार से हा सजता है यह बतान के लिये कम व भद करके समझाया है। आत्मा के पुरुषार्थ के समय प्रस्तुत परमाणु उसी चाम्दता के अनुसार स्वय परिणमन करता है। इसमें जाना व निमित्त-नमित्तिक सम्यक् का ज्ञान कराया है परन्तु यह बात नहीं है कि कम आत्मा का कुत्र करते हैं।

एक कर्म परमाणु भी द्रव्य है, उसमें जा अनारि अनन्त पयाय जाती है वही समय समय पर कमवद्ध होती है।

प्रश्न —आपने तो यह कहा है कि कम की उदीरणा होती है ?

उत्तर —उदीरणा का अर्थ यह नहीं है कि बाद में हान धार्ल अवस्था को उदीरणा करके जल्दा लाया गया हो कर्म की कमवद्ध अवस्था ही उम तरुह की होनी है। जीव न अपने में पुरुषार्थ किया है यह बतान के लिये उपचार से एसा कहा है कि कम में उदीरणा हुई है। वास्तव में कर्म का अवस्था का कम वदन नहीं गया, परन्तु जीव न अपनी पर्याय में उस प्रकार का पुन्यार्थ किया है—उसका ज्ञान करान के लिये ही उदीरणा कही जाती है।

जसा यह कहा जाता है कि जीव अधिक पुन्यार्थ करे तो अधिक कर्म गिर जात है वहा भी वास्तव में जीव ने कमों का तिराने का पुरुषार्थ नहीं किया किन्तु अपने स्वभाव में रहने का पुरुषार्थ किया है। जीव के विरोध पुरुषार्थ का ज्ञान करान के लिये उपचार से एसा कहा जाता है कि बहुत समय के कर्म परमाणुओं का मल्पकाल में हा नष्ट कर दिया है। इन आरापित बधन में दयाव वन्तुस्वरूप तो यह है कि जीव न स्वभाव में रहा का पुरुषार्थ किया और उस समय तिन कमों की अवस्था स्वय सिग्नरूप थी व कम तिर गय। परमाणु की अवस्था के कम में २५

नहीं पहना। बहुत काल के कर्म जगत्तर में बाध दिये इसका अर्थ उन्ना ही समझना चाहिये कि जीव ने वस्तु सा पुर्याय अर्थात् पर्याय में किया है।

इसका अर्थ परिणामस्वरूप है, और वे अपने आप कमबद्ध पर्याय में परिणामित होत हैं। इसका अर्थ पर की सहायता के बिना अन्य परिणामित होते हैं यह श्रद्धा करने में ही असन्न पुर्याय है। पुर्याय के बिना जीव की मद भी पर्याय नहीं होती। मात्र पुर्याय की उन्मुक्तता अर्थात् और करने की जगत् जीव पर की ओर अर्थात् यही अज्ञान है। यदि वह स्वभाव की रूढ़ि करे, तो स्वभाव ही चार टके अर्थात् पर्याय समान गृह्य हो जाये।

यस बात की समझ में आत्मा के साक्षर या उपाय निहित है अनिष्ट इस बात को रूढ़ि विनियोग करके समझना चाहिये उन्ने जगत् में उन्नत नहीं चाहिये। उन्ने निवेश पूर्वक रम्य करके जानना चाहिये। परम मन को टम्ना नहीं चाहिये, किन्तु अज्ञान के अर्थ प्रगट करके विनियोग पूर्वक निवेश करना चाहिये। सत्य में क्रिया की लज्जा नहीं होती यह तो वस्तुस्वरूप है।

सम्यग्दृष्टि वस्तुना अपने सम्यग्ज्ञान में यह जानना है कि सर्वज्ञ भगवान् ने अपने ज्ञान में जो जाना है उन्नी प्रकार प्रत्येक वस्तु सम्यक् परिणामित होती है। मेरी केवलज्ञान पर्याय भी सम्यक् रूप में मेरे स्वभाव में मे ही प्रगट होगी। एसी सम्यक् भावना में उन्ना ज्ञान बटकर स्वभाव में प्रकाश होता है और जाता अन्ति प्रति पर्याय में निर्भल होती जाती है तथा विनागी पर्याय कमजोर होती जाती है। मैंन कहता है कि इसमें पुर्याय नहीं है? निश्चय ऐसे स्वभाव में है वह सम्यग्दृष्टि है और इस स्वभाव में जो तनिक भी संवेद का वेदन करता है वह मिथ्यादृष्टि है उन्ने सर्वज्ञ के ज्ञान की ओर अपने ज्ञान स्वभाव की श्रद्धा नहीं है।

अर्थात् 'इस सम्यग्दृष्टि जीव की भावना तो देखो' वह स्वभाव से ही प्रारम्भ करता है और स्वभाव में ही लान्तर पूरण करता है। उन्ने जहां से प्रारम्भ क्रिया या वहीं का वहीं जा रहा है, आत्मा में स्वाश्रय में साधक दगा प्रारम्भ की है और पूर्णता भी स्वाश्रय में आत्मा में ही होती है।

न ज्ञानात् संप्रणयान्ति नित्तं मे ही समाधिः हा जाता ह । मायक प्रमाणा
 भ्रान्त म ही समाधिः ज्ञाना चात्ता है । उगन बाहर मे न ता वहीं न
 प्रा म किया ह और न बाध म वही रहन वाला ह । आत्मा का मही
 आत्मा में न निकल कर आत्मा म ही समाधि हो जाता ह ।

पुरु नान्न तान का न प्रत नी - किन्तु सभी पद्यों का प्रमाणा
 भ्रमवद् जाती ह । यग मन्दाया तीर की बात समझाई ह । आत्मा का
 प्रमाणा आत्मा म ही क्रमवद् प्राप्त जाती है यह निश्चय वचन में अनन्त
 गीत ह । इ निश्चय करे पर पहले अनन्त पद्यों का भ्रमा घुरा मान
 कर ता रागरूप होता था पर तब दूर हा गया पर निमित्त का स्यात्तित्व
 गीत जो नीचे पर म रह जाता था वह भर भ्रमन आसंग्यभार का
 मन में लग गया ह राग निमित्त इत्यादि क भार का नि गद् और
 म ता में प्रति हे, गइ । स्वभाव ही में भ्रान्त पर्याय ही स्वाधीनता की
 सभी प्रतीति हा ह तत्समर्थी यह बात है । स्वभाव-प्रति जा सता
प्रति प्रत तप मति ज्ञान और पञ्च पापन आदि सब रिता नरुद धराय
ह समान स्थिति ह । निश्चय प्रति नीर क य वृद्ध मभे नहीं ज्ञान ।

ह जीव ' तग पन्तु म भगवान् जितनी ही परिपूर्ण गति ह भगवता
 पन्तु म ही प्रगत जाती ह । यदि एम भ्रमन पर यथार्थ पन्तु का प्रति
 में न न ता पन्तु के स्वरूप का ज्ञान विना जन्म भग्न का इत नहीं
 हा गता । पन्तु क ज्ञान पर अनन्त समार दूर हा जाता ह । पन्तु में
 सत्ता गीत ह पन्तु की प्रतीति ज्ञान पर भाग पर्याय का तैयारी की प्रति
 प्रतीति ज्ञान गती ह । भगवत हर हर स्वभाव का वाता १ एवकार ही
 त क १ तब स्वभाव की स्वीकृति न मे स्वभाव का ही प्रतीति आदर्श
 स्वभाव-ज्ञानार्थी म इकार मत कर १ सब प्रकार म भ्रमन का पता है
 ज्ञान टूट म प्रति करके देन स्थ म म गति-अनन्त मोक्ष का प्रगत
 हला ह तब स्थ की प्रतीति १ सब मे मोक्ष का प्रगत हा गी ह ।

जीव, पुद्गल, धर्म, अवधर्म, आकारा और कात इन द्रव्यों में क्रमवद्ध पर्याय है। यदि जीव अपनी क्रमवद्ध पर्याय की धृष्टा करे तो उमकी क्रमवद्ध मोक्ष पर्याय हुये जिना न रहे, क्यो कि क्रमवद्ध की धृष्टा का भार निज में होता है। जिम वस्तु में मे धरनी अवस्था गानी है उम वस्तु पर दृष्टि रखने से मोक्ष होता है। पर द्रव्य मेरी अवस्था वो कर देगा ऐसी दृष्टि के दृष्ट जाने से और निज द्रव्य मे दृष्टि रखने मे राग की उत्पत्ति नहीं होती, अर्थात् वस्तु की क्रमवद्ध अवस्था होती है। ऐसी दृष्टि देने पर स्वयं जाता-दृष्ट हो जाता है और ज्ञाना-दृष्ट के बल से अस्थिरता को तोडकर संपूर्ण स्थिर होकर अल्पज्ञान में ही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। इनमें अनन्त पुस्तार्थ आ जाता है।

पुस्तार्थ के द्वारा स्वरूप की दृष्टि करने से और उस दृष्टि के बल से स्वरूप में रमणता करने मे चैतन्य में शुद्ध क्रमवद्ध पर्याय होती है। चैतन्य की शुद्ध क्रमवद्ध पर्याय प्रयत्न के बिना नहीं होती। मोक्षमार्ग के प्रारंभ से मोक्ष की पूर्णता तक सर्वत्र सम्यक् पुस्तार्थ और ज्ञान का ही कार्य है।

वाह्य वस्तु का जो होना हो मो हो, इस प्रकार क्रमवद्धता का निश्चय करना वास्तव में तब कहलाता है जब वाह्य वस्तु मे उद्यम होकर सबका ज्ञाना मात्र रह जाये, तभी उसके क्रमवद्ध का सच्चा निर्णय होता है। जो जीव अपने को पर का कर्ता मानता है और यह मानता है कि पर से अपने को सुख दुःख होता है उसे क्रमवद्ध पर्याय की चिन्ता मात्र भी प्रतीति नहीं है।

मैं द्रव्य हूँ और मेरे अनन्त गुण है, वे गुण पलटकर समय २ पर एक के बाद एक अवस्था होंगी हैं, वह उल्टी सीधी नहीं होती और न एक ही साथ दो अवस्थाएँ एकत्रित होती है; कोई भी समय अवस्था के जिना खाली नहीं जाता। केवलज्ञान और मोक्ष दशा भी मेरे गुण में से ही क्रमवद्ध प्रगट होंगी हैं। इस प्रकार क्रमवद्ध पर्याय की प्रगट होने पर अपनी पर्याय प्रगट होने के लिये किसी पर वस्तु पर लज नहीं रहेगा; और इस-

लिये किसी पर 'वरतु पर रागद्वेष' करने का कारण नहीं रहेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि समस्त परपदार्थों का लज छोड़कर आत्मनिरीक्षण में ही लग जाता है। ऐसा होने पर अने में भागसा आधुनता का विकल्प नहीं रहेगा।
 कि "मेरी पूर्ण शुद्ध पर्याय कब प्रगट होगी"। क्यों कि तीन काल की क्रमबद्ध पर्याय से भरा हुआ 'द्वेष' उमरी प्रतीति में आगया है। तात्पर्य यह है कि जो क्रमबद्ध पर्याय की धृष्ट करता है वह तब अज्ञान ही आसन मुक्ति गामी होता है।

क्रमबद्ध पर्याय की धृष्ट होने पर द्वेष भी आगया चाहे बिगसे ही किन्तु उसमें यह विचर (राग-द्वेष) बदलि नहीं जाता कि— 'यह ऐसा क्यों हुआ? यदि ऐसा हुआ होता तो मुझे ठीक जाता। क्रमबद्ध पर्याय का निश्चय करन मात्र क यह धृष्टा होती है कि इस द्वेष की इस समय ऐसी ही क्रमबद्ध अवस्था होना थी वसा ही हुआ है तब फिर वह उसमें राग या द्वेष क्यों करगा? जिस समस्त जिन वस्तु की जा अवस्था होती जानी है उसका वह मात्र ज्ञान ही करता है वम यह ज्ञाता छा गया ज्ञाता रूप में रत्नकर व२ अल्पज्ञान में ही 'कर्मज्ञान प्राप्त करके मुक्ति' को प्राप्त करेगा। यह क्रमबद्ध पर्याय की धृष्टा का फल है।

क्रमबद्ध अवस्था का निर्णय उनी छायाकभाव का अथात् वीतरागस्वभाव का निर्णय है और वह निर्णय अनन्त पुरुषार्थ से हो सकता है। पुरुषार्थ का स्वीकार भिन्न विना मात्त की धार का क्रमबद्ध पर्याय नहीं होती। जिसक ज्ञानमें पुरुषार्थ का स्वीकार नहीं होता वह अपन पुरुषार्थ का प्रारम्भ नहीं करता। इमलिये पुरुषार्थ क बिना उसे सम्यग्दर्शन और कवलानन नहीं होता। पुरुषार्थ का स्वीकार न करन वाले की क्रमबद्ध पर्याय निर्मल नहीं होती किन्तु विकृती होगी। अथात् पुरुषार्थ को स्वीकार न करन वाला अनन्त 'समारा' है और पुरुषार्थ का स्वीकार करने वाला निष्प्र मोक्षगामी है। चाह 'क्रमबद्ध अवस्था का निर्णय कदा या पुरुषार्थवाद कहा- यह यही है।

प्रश्न—यदि क्रमबद्ध पर्याय जब जो हमारी हो वहा हो, तो फिर विकृती भाव भी जब होन हो तभी तो होगा?

उत्तर—अरे भाई ! तेरा प्रश्न निपरीतता को लेकर उपस्थित हुआ है । जिसने अपने ज्ञान में यह प्रतीति कर ली है कि ' विहारी पर्याय जब होनी थी, तब हुई ' तो उसकी रुचि कहा जाकर अटकती है ? विकार को जानने वाले को ज्ञान की रुचि है या विहार की ? विकार को यथार्थतया जानने का काम करने वाला वीर्य तो अपने ज्ञान का है और उस ज्ञान का वीर्य विकार से हटकर स्वभाव के ज्ञान में अटक रहा है । स्वभाव के ज्ञान में अटका हुआ वीर्य विकार की या पर की रुचि में कदापि नहीं अटकता । किन्तु स्वभाव के बल से विहार का अल्पकाल में जय होता है । जिसे विकार की रुचि है उसकी दृष्टि का बल (वीर्य का भार) विकार की ओर जाता है । " जो होनी होती है वही पर्याय क्रमबद्ध होती है " उस प्रकार विगम वीर्य स्वीकार करता है ? यह स्वीकार करने वाले के वीर्य में, पर में सुस्पष्टि नहीं होती किन्तु स्वभाव में ही सतोप होता है ।

जैसे किनी बड़े आदमी के यहा शादी का अवसर हो और वह सब को आचूल निमंत्रण देकर विविध प्रकार के मिष्ठान्न जिमाचे,—इसी प्रकार यहाँ सर्वज्ञदेव के घर में आचूल निमंत्रण है, ' मुक्ति के मटप में ' सर्वज्ञ आमंत्रण है, समस्त विश्वको आमंत्रण है । मुक्तिमटप के हर्ष-भोज में सर्वज्ञ भगवान के द्वारा द्विव्यग्रनि में परोसे गये न्यायो में से उच्च प्रकार के न्याय परोसे जाते हैं, जिन्हे पचाने से आत्मा पुष्ट होता है ।

यदि तुम्हें सर्वज्ञ-भगवान होना हो तो तू भी इस बात को मान, । जो इस बात को स्वीकार करना है उसकी मुक्ति निश्चिन है । ता ' यह है मुक्ति मडप और इसका हर्ष-भोज इसे स्वीकार करो ' अब गाथा ३२१-३२२ में जो वस्तुस्वरूप बताया है उसकी विशेष दृष्टता के लिए ३२३ वीं गाथा कहते हैं । जो जीव पहले गाथा ३२१-३२२ में कहे गये वस्तुस्वरूप को जानता है वह सम्यग्दृष्टि है और जो उसमें सशय करता है वह मिथ्यादृष्टि है—

एवं जो शिञ्चयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए ।

सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो सकदि सो हु कुद्धिट्ठी ॥ ३२३ ॥

अथ—इस प्रकार निश्चय से समस्तद्रव्यों (जीव पुत्रल वन भ्रमण
 आकाश, काल) तथा उन द्रव्यों का समस्त पर्यायों का जो सब क आगमात्
 सार जानता है—श्रद्धा करता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और जो अभी श्रद्धा
 नहीं करता—जका सबह करता है वह सबह क आगम के प्रतिज्ञा है—प्रगट
 रूप में मिथ्यादृष्टि है ।

सर्वज्ञ ने कलत्रज्ञान क द्वारा जानकर जिन द्रव्या और उनकी अनादि
 अनन्त काज का समस्त पर्यायों का आगम में कहा है वे सब जिस के रूप में और
 प्रतीतिमें जम गये हैं वे “सुदृष्टि सुद्धा” अर्थात् शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं । मूल पाठ
 में ‘सा सम्यग्दृष्टि शुद्ध’ यह कह कर भार दिया है । पहली बात अस्मि
 की अपेक्षा से कही और फिर नास्मि की अपेक्षा से कहते हैं कि सकारि
 गा हु सुदृष्टि’ अर्थात् जो उन में शका करता है वह प्रगट रूप में मिथ्यादृष्टि
 है—सर्वज्ञ का शत्रु है ।

स्वामी कार्तिकेय आचार्य न इन ३ १-३०-३ २ वीं गाथामों में
 गूढ रहस्य सन्निहित करने रख दिया है । सम्यग्दृष्टि तीव्र बराबर जानता है
 कि त्रिकालिक समस्त पदार्थों की अवस्था कमबद्ध है । सर्वज्ञ देव और सम्य
 दृष्टि में इतना अन्तर है कि सर्वज्ञ देव समस्त द्रव्या की कमबद्ध पर्यायों का
 प्रत्यक्ष ज्ञान से जानते हैं और सम्यग्दृष्टि धमात्मा समस्त द्रव्यों की कमबद्ध
 पर्यायों का आगम प्रमाण से प्रतीति में लता है अर्थात् पराज ज्ञान से
 निश्चय करता है । सर्वज्ञ क वर्तमान रागद्वेष सबया दूर हो गये हैं । सम्य
 दृष्टि क अभिप्राय में भी राग-द्वेष सबया दूर हो गये हैं । सर्वज्ञ भगवान
 कलत्रज्ञान से त्रिकाल का जानते है । सम्यग्दृष्टि जान यद्यपि करतगा में
 नहीं जानते तथापि वे ज्ञान के द्वारा त्रिकाल क पदार्थों की प्रतीति
 करी है । उनका ज्ञान भी निश्चय है । पर्याय प्रत्यक्ष यन्तु का धर्म है ।
 यन्तु स्वतंत्रता अर्थात् पर्यायरूप में होती है । जिस समय जो पर्याय हानो
 है उसका मात्र जानना ही ज्ञान का कर्तव्य है । जानने क बाद ‘यह पर्याय
 का कर्म है’ एता उदा कर्म वान का यन्तु क स्वतंत्र पदावयव’ है

और ज्ञान के कार्य की खबर नहीं है। ज्ञान का कार्य मात्र जानना है, जानने में यह कैसे हुआ? इस प्रकार की गंजा को स्थान ही कहा है? 'ऐसा कैसे?' ऐसी गंजा करना ज्ञान का स्वस्व ही नहीं है, किन्तु 'जो पर्याय होती है वह वस्तु के बर्मानुसार ही होती है,' इसलिए जेमी होती है उसी प्रकार उसे जानना ज्ञान का स्वभाव है। इस प्रकार ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके ज्ञानी सबको निःकम्प में जानता रहता है। ऐसे ज्ञान के चल से केवलज्ञान और अज्ञानी श्याम के बीच के अन्तर को तोड़कर पूर्ण केवलज्ञान को अल्पकाल में ही प्रगट कर लेगा।

जो जीव वस्तु की क्रमबद्ध स्वतंत्र पर्याय को नहीं मानता और यह मानता है कि 'मैं पर का कुछ कर सकता हूँ—उसमें परिवर्तन कर सकता हूँ और पर मुझे रागद्वेष करता है' उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की श्रद्धा नहीं है, तथा वह सर्वज्ञ के आगम से प्रतिकूल प्रगट मिथ्यादृष्टि है। जो यह मानता है कि जो सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रतिभाषित हुआ है उसमें मैं परिवर्तन कर हूँ, वह सर्वज्ञ के ज्ञान को नहीं मानता। जो सर्वज्ञ के ज्ञान को और उनकी धी-मुखवाणी के 'न्यायों' को नहीं मानता वह प्रगटस्तर में मिथ्यादृष्टि है। सर्वज्ञ-देव तीन काल और तीन लोक के समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को जानते हैं, और सभी वस्तु की पर्याय प्रगटस्तर में उसी से स्वयं होती हैं तथापि जो उससे विरुद्ध मानता है (सर्वज्ञ के ज्ञान से और वस्तु के स्वरूप से विरुद्ध मानता है) वह सर्वज्ञ का और अपने आत्मा का विरोधी एव प्रगटस्तर में मिथ्यादृष्टि है।

यद्यपि पर्याय क्रमबद्ध होती है किन्तु वह बिना पुरुषार्थ के नहीं होती। जिस ओर का पुरुषार्थ करता है उस ओर की क्रमबद्ध पर्याय होती है। यदि कोई कहे कि इसमें ता नियत आगया, तो उसके उत्तर में कहते हैं कि 'हे भाई! त्रिकाल की नियत पर्याय का निर्णय करने वाला कौन है? जो त्रिकाल की पर्यायों को निश्चित करना है वह मानों द्रव्य को ही निश्चित करता है। जो पर के लक्ष से निज का नियत मानता है वह एकान्तवादी, चातूनी है और

अपने स्वभाव के लक्षण से स्वयं स्वभाव में मिलकर—स्वभाव की एकता करके राग का दूर करके ज्ञायक हो गया है उसका अपने स्वभाव के, पुण्याय में नियत समाहित हो जाता है। जहाँ स्वभाव का पुण्याय है वहाँ नियम से मात्र है अर्थात् पुण्याय में ही नियत आ जाता है। जहाँ पुण्याय नहीं है वहाँ मोक्ष पर्याय का नियत भी नहीं है।

अहा ! महा सन्त मुनीश्वरों ने जगत् में रहकर आत्मस्वभाव का अमृत प्रवाहित किया है। आचार्यदेव धर्म के स्तम्भ हैं आचार्यदेवों ने पवित्र धर्म का सारा देकर उसे स्थिर रखा है। एक एक आचार्यदेव न अद्भुत कार्य किया है। साचरुदशमें स्वरूप की शान्ति का वेदन करते हुए परीपहा का जीतकर परम सत्य को जीवित रखा है। आचार्य देव के कथन में कवलज्ञान की प्रतिबन्धि गर्जित हो चुकी है। ऐसे महान शास्त्रों की रचना करके आचार्यों ने अज्ञानजीन पर अपार उपकार किया है। उनकी रचना को देखा पद पद पर कितना गम्भीर रहस्य भरा है। यह तो मन्य की घोषणा है। इस के सास्कार अपूर्व वस्तु है, और इसे समझना मानों मुक्ति को वरण करने का श्रेष्ठ है। जो इसे समझ लेता है उसका मात्र निमित्त है।

प्रश्न:—जो होना होता है तो होता है, ऐसा मानने में अनन्त स्वरूप धर्म आया ?

उत्तर—जो होना होता है, वह वसा होता है अर्थात् पर का पर से होता है और मेरा मुक्त से होता है। यह जानकर पर मे हटकर जो अपना भार उठाने हुआ उनसे स्वभाव के लक्षण से माना है उसका भावना में अनन्त स्वरूप है और मती पर्याय भर सत्य में से धर्मवद आती है, मेरी पर्याय पर में से नहीं आती' यह प्रकार अनन्त है। तथा 'पर की पर्याय पर के द्रव्य में से धर्मवद जा होना होता है सो होनी है में उसकी पर्याय का नहीं करता' इस प्रकार अनन्त है। जो होना होता है वही होना है' यह जानकर अपने द्रव्य की भार उठाने वाला चाहिए

परन्तु ' जो होना होता है सो होता है ' इस प्रकार जो मात्र पर मे मानता है, किन्तु अपने द्रव्य की पर्याय कहीं से आती है इसकी प्रतीति नहीं करता, अर्थात् पर लज को झोंडकर स्वलज नहीं करना वर एकान्तवादी है।

प्रश्न—भगवान ने तो मोक्षमार्ग के पांच समवाय कहे हैं, और याप मात्र पुरुषार्थ पुरुषार्थ ही रटा करते हैं, तो फिर उममें अन्य चार समवाय किस प्रकार आते हैं ?

उत्तर—जहाँ जीव सच्चा पुरुषार्थ करता है वहाँ स्वयं अन्य चार समवाय अवश्य होते हैं। पांच समवायों का सज्जित स्वरूप इस प्रकार है—

१—मैं पर का कुछ करने वाला नहीं हूँ, मैं तो त्रायक हूँ, मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से आती है इस प्रकार स्वभावदृष्टि करके पर की दृष्टि को तोटना सो पुरुषार्थ है।

२—स्वभावदृष्टि का पुरुषार्थ करते हुए जो निर्मल दशा प्रगट होती है वह स्वभाव में थी सो वही प्रगट हुई अर्थात् जो शुद्धता प्रगट होती है वह स्वभाव है।

३—स्वभावदृष्टि के पुरुषार्थ में स्वभाव में से जो कमवद्ध पर्याय उस समय प्रगट होनी थी वही शुद्ध पर्याय उस समय प्रगट हुई सो नियति है। स्वभाव की दृष्टि के बल से स्वभाव में जो पर्याय प्रगट होने की शक्ति थी वही पर्याय प्रगट हुई है। वम, स्वभाव में से जिस समय जो दशा प्रगट हुई वही पर्याय उमकी नियति है। पुरुषार्थ करने वाले जीव के स्वभाव में जो नियति है वही प्रगट होती है, बाहर से नहीं आती।

४—स्वदृष्टि के पुरुषार्थ के समय जो दशा प्रगट हुई वही उस वस्तु का स्वकाल है। पहले पर की ओर मुक्ता था, उमकी जगह रवोन्मुख हुआ गो यही स्वकाल है।

५—जब स्वभावदृष्टि से यह चार समवाय प्रगट हुये तब निमित्त-रूप कर्म उसकी अपनी योग्यता से स्वयं हट गये, यह कर्म है।

इस में पुरुषार्थ स्वभाव नियति और काल यह चार समवाय अस्तिरूप हैं अर्थात् वे चारों उपादान की पर्याय से सम्बद्ध हैं और पाचवा समवाय नास्तिरूप है यह निमित्त से सम्बद्ध है । यदि पाचवा समवाय आत्मा में लागू करना हो तो वह इस प्रकार है—परोन्मुखा से हटकर स्वभाव की ओर मुड़ने पर प्रथम के चारों का अस्तिरूप में और कम का नास्तिरूप में एक प्रकार आत्मा में पाचों समवायों का परिणमन हो गया है अर्थात् निज व पुरुषार्थ में पाचों समवाय अपनी पर्याय में समाविष्ट हो जाते हैं । प्रथम चार अस्ति से और पाचवा नास्ति से अपने में ५ ।

जब जीव न सम्यक् पुरुषार्थ नहीं किया तो विकारीभाव के लिये कम निमित्त बन्नाया और जब सम्यक् पुरुषार्थ किया तो कम का अभाव निमित्त बढ़ाया । जीव अपने में पुरुषार्थ के द्वारा चार समवायों को प्रगट करे और प्रस्तुत कम की दशा बदलती न हो, एसा हो ही नहीं सकता । जीव निज लक्ष्य करके चार समवाय रूप परिणमित होता है और कम की ओर लक्ष्य करने परिणमित नहीं होता (अर्थात् उदय में युक्त नहीं होता) तो कम की अवस्था में निरोग बढ़ा जाता है । जीव जब स्वमन्मुख परिणमित होता है तो भूल ही कम उदय में हो किन्तु जीव के उस समय के परिणमन में कम के निमित्त की नास्ति है । स्वयं निज में एकमेक हुआ और कम की ओर नहीं गया ना यही कम की नास्ति अर्थात् उदय का अभाव है ।

आत्मा में एक समय की स्वमन्मुखता में पाचों समवाय अस्तित्व में हैं । जीव जब पुरुषार्थ करता है तब उसके पाचों ही समवाय एक ही समय में होते हैं । स्वकी प्रतीति में परकी प्रतीति आ ही जाती है । ऐसी कम बढ़ वस्तुम्यरूप की प्रतीति में कवलक्षण का पुरुषार्थ आ गया है ।

प्रश्न—जीव कवलक्षण का प्रगट करने का पुरुषार्थ कर किन्तु उस समय कम की अवस्था अवस्था अतिक्रमण तक नहीं हो तो जीव के कवलक्षण किसे प्रगट लागे ।

उत्तर—तेरी गता । अदभुत है तुम्हें अपना पुरुषार्थ का ही विवास नहीं है इसलिए तभी दृष्टि कम की और प्रकृत हुई है । जो एसी ज्ञान करता

है कि 'सूर्य का उदय होगा और फिर भी यदि अन्धकार नष्ट न हुआ तो ?' वह मुख है। इसी प्रकार 'मैं पुरुषार्थ कर्ता और कर्म की स्थिति अधिक समय तक रहनी हो तो ? जो ऐसी शंका करता है' उसे पुरुषार्थ की प्रतीति नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है। कर्म की क्रमवद्ध पर्याय ऐसी ही है कि जब जीव पुरुषार्थ करता है तब वह स्वयं ही दूर हो जाती है। 'कर्म अधिक काल तक रहना हो तो ?' यह दृष्टि तो पर की ओर प्रलंबित हुई है, और ऐसी शंका करने वाले ने अपने पुरुषार्थ को पराधीन माना है। तुम्हें अपने आत्मा के पुरुषार्थ की प्रतीति है - या नहीं ? मैं अपने स्वभाव के पुरुषार्थ से केवलज्ञान प्रगट करता हूँ और जब अपनी केवलज्ञान दशा प्रगट करता हूँ तब घातिया कर्म होते ही नहीं, ऐसा नियम है। जिसे उपादान की श्रद्धा हो उसे निमित्त की शंका नहीं होती और जो निमित्त की शंका में अटक गया है उसने उपादान का पुरुषार्थ ही नहीं किया। जो उपादान है सो निश्चय है, और निमित्त है सो व्यवहार है।

निश्चयानय संपूर्ण द्रव्य को लक्ष में लेता है। संपूर्ण द्रव्य की श्रद्धा में केवलज्ञान से कर्म की स्वीकृति ही कहाँ है ? क्रमवद्ध पर्याय की श्रद्धा में द्रव्य की श्रद्धा है, और द्रव्य की श्रद्धा में केवलज्ञान से हीन दशा की प्रतीति ही नहीं है। इसलिये क्रमवद्ध पर्याय की श्रद्धा में केवलज्ञान ही है।

केवलज्ञानी निश्चय से तो संपूर्ण आत्मज्ञ ही है किन्तु व्यवहार से सर्वज्ञ है। सम्पूर्ण आत्मज्ञ होने से सर्वज्ञ कहलाता है। आत्मज्ञता के बिना सर्वज्ञता हो ही नहीं सकती।

सर्वज्ञ सभी वस्तु की पर्यायों के क्रम को जानता है, इसलिये जो निम्नदशा में भी यह प्रतीति से लाता है कि 'सभी वस्तुओं की क्रमवद्ध पर्याय है' वह जीव सर्वज्ञता को स्वीकार करता है, और जो 'सर्वज्ञता को स्वीकार करता है वह आत्मज्ञ ही है, क्योंकि सर्वज्ञता कभी भी आत्मज्ञता के बिना नहीं होती। जो जीव वस्तु की सम्पूर्ण क्रमवद्ध पर्यायों को नहीं मानता

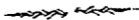
अनन्त पुरुषार्थ

वह सर्वज्ञता को नहीं मानता, और जो सज्जना को नहीं मानता वह आत्मज्ञ नहीं हो सकता ।

आत्मा की सम्पूर्ण ज्ञानगति में मनुष्य वस्तुओं की तीनों मात्र की पर्यायें जसी होनी जाती हैं वैसे ही जात होता है और जैसी जात जाती है उनी प्रसार होती हैं । जिसे ऐसी प्रतीति हो जाती है उसे कमवद पर्याय की और मनुष्य की शक्ति की प्रतीति हो जाती है और वह आत्मज्ञान को जाता है आत्मज्ञान जीव सत्त अन्तर्य होता है ।

वस्तु के प्रत्यक्ष गुण की पर्याय प्रवादवद चलाती ही रहती है । एक और सत्त का केवलज्ञान परिणमित हो रहा है दूसरी ओर जगत् के सब द्रव्यों की पर्याय अपने भीतर कमवद परिणमित हो रही है । अरे ! मर्म एक दूसरे का क्या कर सक्ता है ? समस्त च्य अपने आप में ही परिणमित हो रहे हैं । कम । ऐसा प्रतीति करन पर जान अलग ही रह गया सत्त से राग-द्वेष उट गया और मान जान रह गया यही केवलज्ञान है ।

परमात्मा से निमित्त के बिना ही कार्य होता है । विद्यारूप में या शुद्धरूप में जीव स्वयं ही निज पर्याय में परिणमित होता है और उस परिणमन में निमित्त का ता नास्ति है । कम और आत्मा का सम्मिलित परिणमन ही वह विचार नहीं होता । एक वस्तु के परिणमन के समय परवस्तु की उपस्थिति हो तो इससे क्या ? परवस्तु का और निज वस्तु का परिणमन निरन्तर भिन्न ही है इसलिए जीव की पर्याय निमित्त के बिना अपने आप में ही होनी है, निमित्त कहीं जीव की राग-द्वेषादि पर्याय में घुस नहीं जाना । इसलिए निमित्त के बिना ही राग-द्वेष होता है । निमित्त का उपस्थिति होनी है या तो ज्ञान करन के लिए है ज्ञान का सामर्थ्य ज्ञान से जीव निमित्त को जानता भी है परन्तु निमित्त के कारण निपादान में कुछ नहीं होता ।



आत्मस्वरूप की यथार्थ समझ सुलभ है ।

अपना आत्मस्वरूप समझना सुगम है, किन्तु अनादि से स्वरूप के अनभ्यास के कारण कठिन मालूम होता है । यदि कोई यथार्थ रुचि पूर्वक समझना चाहे तो वह सरल है ।

चाहे जितना चतुर कारीगर हो तथापि वह दो घड़ी में मरान तैयार नहीं कर सकता, किन्तु यदि आत्मस्वरूप की पहचान करना चाहे तो वह दो घड़ी में ही हो सकती है । आठ वर्ष का बालक एक मन का बोझ नहीं उठा सकता, किन्तु यथार्थ समझ के द्वारा आत्मा की इर्तति करके केवलज्ञान को प्राप्त कर सकता है । आत्मा परद्रव्य में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता, किन्तु स्व-द्रव्य में पुरुषार्थ के द्वारा समस्त अज्ञान का नाश करके, सत्यज्ञान को प्रगट करके केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है । स्व में परिवर्तन करने के लिये आत्मा गणुण स्वतंत्र है, किन्तु पर में कुछ भी करने के लिये आत्मा में प्रियत् मात्र सामर्थ्य नहीं है । आत्मा में इतना अकार स्वाधीन पुरुषार्थ विद्यमान है कि यदि वह उल्टा चल तो दो घड़ी में सातवें नरक जा सकता है और यदि मीठा चले तो दो घड़ी में केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध हो सकता है ।

परमागम श्री समयसारजी में कहा है कि—‘ यदि यह आत्मा अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को पुद्गलद्रव्य से भिन्न दो घड़ी के लिये अनुभव करे (उसमें लीन हो जाय) परिषदों के आने पर भी न दिखे तो घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान को प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त हो जाय । आत्मानुभव

की ऐसी महिमा है तो मिथ्यात्व का नारा करके सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का होना सुलभ ही है इसलिये श्री परम-गुरुओं ने यही उपदेश प्रधनता से दिया है।

श्री समयसार प्रवचनो में आत्मा की पहिचान करने के नियम बारबार प्रेरणा की गई है कि—

(१) चतन्य क विलामरूप ध्यानद का किंचिद् प्रयक् करक दख । उस ध्यानद के भीतर दखन पर तू गीरादि क भाद का तत्काल द्वां सकगा ।
‘मगिति’ अथात् मन् से ज्ञान सकगा । यह बात सरल है, क्योंकि कि यह तर म्बभाव की बात है ।

(२) सातव नरक की अनंत बदनामें पड़ हुए जीवा ने भी आत्मानुभव प्राप्त किया है तब यहाँ पर सातवें नरक क धरावर तो पीटा नहीं है । अनुभव प्राप्त करने रोना क्या गया करता है ? अब सत्सभागम से आत्मा का परिचान करके आत्मानुभव कर ! इस प्रकार समयसार प्रवचना में बारम्बार हजारों बार आत्मानुभव करने की प्रेरणा की है । जैनशास्त्रों का ध्येयबिन्दु ही आत्मस्वरूप की परिचान कराना है ।

अनुभव प्रकार ’ प्रथ में आत्मानुभव की प्रेरणा करते हुये कहा है कि काई यह जान कि आज क समय में स्वरूप की प्राप्ति कठिन है तो समझना चाहिय कि वह स्वरूप की चाह को मिटाने वाला पहिरात्मा है । जब वह निच्छला होता है तब विक्रिया करने लगता है । उस समय यदि वह स्वरूप की प्रेरणा अनुभव करे तो उसे कौन रोक सकता है ? यह धितन अश्चय ही यान है कि वह पर परिणाम का ता मुगम और निज परिणाम को विपन बताता है । स्वयं दग्गता है जानता है तथापि यह कहत हुय लज्जा नहीं मानी कि वेगना नहीं जाना, जाना नहीं जाना । जिसका जदगान मध्य जीव गाते हैं, जिसकी अगार महिमा को जानने से महा भर-अमण दूर हो जाता है, ऐसा यह समयसार (आत्मस्वरूप) अविभार जन एना चाहिये ।

यह जीव-अनादि काल से अज्ञान के कारण परद्रव्य को अपना करने के लिये प्रयत्न कर रहा है और शरीरादि को अपना बनाकर रखना चाहता है, किंतु परद्रव्य का परिणामन जीव के आधीन नहीं है, इसलिये अनादि से जीव के परिश्रम- (अज्ञानभाव) के फल में एक परमाणु भी जीव का नहीं हुआ। अनादिकाल से देह-दृष्टि पूर्वक शरीर को अपना मान रखा है किन्तु अभी तक एक भी रजकण न तो जीव का हुआ है और न होने वाला है, दोनों द्रव्य त्रिकाल भिन्न है। जीव यदि अपने स्वरूप को यथार्थ समझना चाहे तो वह पुरुषार्थ के द्वारा अल्पकाल में समझ सकता है। जीव अपने स्वरूप को जब समझना चाहे तब समझ सकता है। स्वरूप के समझने में अनन्तकाल नहीं लगता, इसलिये यथार्थ समझ सुलभ है।

यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की रुचि के अभाव में ही जीव अनादिकाल से अपने स्वरूप को नहीं समझ पाया, इसलिये आत्मस्वरूप समझने की रुचि करो और ज्ञान प्राप्त करो।



उपादान निमित्त की स्वतन्त्रता

१— उपादान निमित्त ।

उपादान किसे कहना चाहिय और निमित्त किसे कहना चाहिय ?
 आत्मा का प्रकृत शक्ति को उपादान कहते हैं । तथा पचाय की
 वर्तमान शक्ति को भी उपादान कहते हैं । जिस अवस्था में कार्य होता है उस
 समय की वह अवस्था स्वयं ही-उपादान कारण, और उस समय उस
 अनुकूल परस्पर निमित्त है । निमित्त को लेकर उपादान मृद्ध नहीं होता ।
 इन उपादान निमित्त सबंधी विविध प्रकार की मिथ्या मान्यताओं को दूर
 करने के नियम अनेक दृष्टान्तों के द्वारा उपादान निमित्त का विद्वान्त समझाया
 जाता है ।

२— गुरु के निमित्त से ज्ञान नहीं होता ।

आत्मा में जो ज्ञान होता है वह, ज्ञान आत्मा की पचाय की शक्ति से
 होता है या शक्ति के निमित्त से होता है ?

आत्मा की पचाय की योग्यता से ही ज्ञान होता है, निमित्त से ज्ञान
 नहीं होता । जिस समय आत्मा की पचाय में पुण्याथ के द्वारा सम्यक्ज्ञान
 को प्राप्त कराने की योग्यता होती है और आत्मा सम्यक्ज्ञान प्रगट करती
 है उस समय गुरु का निमित्त कहा जाता है किन्तु गुरु के निमित्त
 से वह ज्ञान नहीं हुआ है ।

जब जीव में अथम सम्यक्ज्ञान का पुण्याथ होता है, तब गुरु की वाणी
 का योग होता ही है किन्तु जब तक उस वाणी पर जीव का लक्ष्य है
 तब तक राग है, और जब वाणी का लक्ष्य द्वापर स्वभाव का निषेध करेगा

है तब उम निर्णय में गुरु को निमित्त कहा जाता है । और जीव को जब गुरु के बहुमान का विकल्प उठता है तब वह यो भी कहता है कि मुझे गुरु से ज्ञान हुआ है ।

३— यह कहना कि मुझे 'गुरु से ज्ञान हुआ है' सो कपट नहीं किन्तु व्यवहार है ।

प्रश्न — ज्ञान तो निज से ही हुआ है गुरु से नहीं हुआ,—यह जानते हुए भी यो कहना कि गुरु से ज्ञान हुआ है सो क्या कपट नहीं कहलावेगा ?

उत्तर:—व्यवहार में यो ही कहा जाता है । यह कपट नहीं किन्तु यथार्थ सिद्धान्त है । गुरु के बहुमान का शुभ विकल्प उत्पन्न हुआ है, इसलिये निमित्त में आरोप किया जाता है ।

प्रश्न:—गुरु के बहुमान का विकल्प उठता है सो तो ठीक है, किन्तु यह क्यों कहा जाता है कि 'गुरु से ज्ञान हुआ है' ?

उत्तर:—बहुमान का विकल्प उठा है, इसलिये निमित्त में आरोप करके व्यवहार से वैसा कहा जाता है । आरोप की भाषा ऐसी ही होती है । किन्तु वास्तव में गुरु से ज्ञान नहीं हुआ है, अथवा ऐसा भी नहीं है कि यदि गुरु न होते तो ज्ञान नहीं होता । जब स्वयं पुरुषार्थ से ज्ञान करता है तब गुरु निमित्त के रूप में माना जाता है । यही सिद्धान्त है ।

४— मिट्टी में घड़ारूप पर्याय होने की योग्यता सदा की नहीं है, किन्तु एक समय की ही है ।

(मिट्टी से घड़ा बनता है, सो वह उसकी वर्तमान पर्याय की उस समय की योग्यता से ही बना है, वह कुम्हार के कारण से नहीं बना । कोई यह कहे कि मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता तो सदा विद्यमान है, किन्तु जब कुम्हार आया तब घड़ा बना, तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है । मिट्टी में घड़ारूप होने की योग्यता सदा नहीं है किन्तु वर्तमान एक ही समय की पर्याय की वह योग्यता है, और जिस समय पर्याय में योग्यता होती है उस

समय ही घटा होता है। अन्य पदार्थों से मिटने को अलग पहचानने के लिये इन्द्रियार्थिकनय से यह कहा जाता है कि 'मिटने में घटा होने की योग्यता है।' किन्तु वास्तव में तो जब घटा हाता है तभी उसमें घटा होने की योग्यता है उससे पूर्व उसमें घटा होने की योग्यता नहीं किन्तु दूसरी पदार्थों हान की योग्यता है।

५— गुरु व कारण श्रद्धा नहीं होती।

आत्मा पुराण से सच्ची श्रद्धा करता है यह उसकी पर्याय की वर्तमान योग्यता है और गुरु अपने कारण से उपस्थित होता है जो कि निमित्त है। ऐसा नहीं है कि जीव न श्रद्धा की इच्छित गुरु वा अज्ञान पडा और ऐसा भी नहीं है कि गुरु आये इसलिये उनके कारण से श्रद्धा हुई है दोनों अपन कारण से हैं। यदि ऐसा मान कि गुरु आये इसलिये श्रद्धा हुई, तो गुरु कता और गिन्य को श्रद्धा हुई इसलिये वह उनका कार्य हुआ। इस प्रकार दो द्रव्यों के कर्ता-कर्मपन हो जायेगा। अथवा ऐसा मान कि श्रद्धा की इच्छित गुरु आ गये तो श्रद्धा की और गुरु आये मो वह उसका कार्य कृत्यायगा—और इस प्रकार दो द्रव्यों के कर्ता कर्मपन हो जायेगा। किन्तु जो श्रद्धा हुई मो वह श्रद्धा की पर्याय के कारण से हुई और जो गुरु आये मो वह गुरु की पर्याय के कारण से आये—इस प्रकार दोनों स्वतंत्र हैं।

६— शास्त्र से ज्ञान नहीं होता।

शास्त्र के मन्मुख आ जान से ज्ञान हो गया हो सो बात नहीं है किन्तु उस समय अपनी योग्यता है, उस क्षण जीव अपनी शक्ति से ज्ञान करता है और तब शास्त्र निमित्त के रूप में विद्यमान है। जान होना हो इसलिये शास्त्र को अज्ञान ही पडता है ऐसी बात नहीं है और ऐसा भी नहीं है कि शास्त्र आया इसलिये ज्ञान हुआ है।

आत्मा के सामान्य ज्ञानस्वभाव का विशेषरूप परिणमन होकर ही ज्ञान होता है। वह ज्ञान निमित्त के अरलम्बन के बिना और राग के आशय के बिना सामान्य ज्ञानस्वभाव के आशय से ही होता है।

७-- कुम्हार के कारण घड़ा नहीं बना ।

मिट्टी की जिस समय की पर्याय में घड़ा बनने की योग्यता है उसी समय वह अपने उदादान से ही घड़े के रूप में हो जाती है, और उस समय कुम्हार की उपस्थिति अपने निज के कारण में होती है—जिसे निमित्त कहा जाता है । जब घड़ा बनना है तब—उस समय कुम्हार दगैरह न हो ऐसा नहीं हो सकता, किन्तु कुम्हार-आया इसलिये मिट्टी की अवस्था घड़ा-रूप हो गई सो बात नहीं है, और ऐसा भी नहीं है कि घड़ा बनना या इसलिये कुम्हार को आना पड़ा । मिट्टी में उस समय की स्वतंत्र पर्याय की योग्यता से घड़ा बना है और उस समय कुम्हार अपनी पर्याय की स्वतंत्र योग्यता से उपस्थित था, किन्तु कुम्हार ने घड़ा नहीं बनाया, और न कुम्हार के निमित्त से ही घड़ा बना है ।

८-- एक-पर्याय में दो प्रकार की योग्यता हो ही नहीं सकती ।

प्रश्न—जब तक कुम्हार रूप निमित्त नहीं था तब तक मिट्टी में से घड़ा क्यों नहीं बना ?

उत्तर—यहाँ यह विशेष विचारणीय है कि जिस समय मिट्टी में से घड़ा नहीं बना उस समय क्या उसमें घड़ा बनने की योग्यता थी ? अथवा उसमें घड़ा बनने की योग्यता ही नहीं थी ?

यदि ऐसा माना जाये कि जब 'मिट्टी में से घड़ा नहीं बना' था तब—उस समय भी मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता थी, परन्तु निमित्त नहीं मिला इसलिये घड़ा नहीं बना, तो यह मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि जब मिट्टी में घड़ा-रूप-अवस्था नहीं हुई, तब उसमें—पिंडरूप-अवस्था है और उस समय वह अवस्था होने की ही उसकी योग्यता है । जिस समय मिट्टी की पर्याय में पिंडरूप-अवस्था की योग्यता होती है, उसी समय उसमें घड़ा-रूप-अवस्था की योग्यता नहीं हो सकती—क्यों कि एक ही पर्याय में एक साथ दो-प्रकार की योग्यता कदापि नहीं हो सकती । यह सिद्धान्त अत्यंत महत्व का है, यह प्रत्येक स्थान पर लागू करना चाहिये ।

१०— जीव निमित्तों को मिला या हटा नहीं सकता, मात्र अपना लज बदल सकता है।

जीव अपने में शुभभाव कर सकता है, किन्तु शुभभाव करने से वह बाहर के शुभ निमित्तों को प्राप्त कर सके अथवा अशुभ निमित्तों को दूर कर सके सो बात नहीं है। जीव स्वयं अशुभ निमित्तों पर से लज को हटाकर शुभ निमित्तों पर लज भरे करे, किन्तु निमित्तों को निहट लाने अथवा दूर करने में वह समर्थ नहीं है। किसी जीव ने जिनमंडिर प्रयत्ना किसी अन्य वर्षस्नान का शिलान्यास करने का शुभभाव किया इसलिये जीव के भाव के कारण वाह्य में शिलान्यास की क्रिया हुई—यह बात मिथ्या है। जीव मात्र निमित्त पर लज कर सकता है अथवा लज को छोड़ सकता है, किन्तु वह निमित्तरूप पर पदार्थों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। वस्तु का ऐसा स्वभाव ही है। इसे समझना मो भेदज्ञान है।

११— पंचमहाव्रत के कारण चारित्र दशा नहीं है और चारित्र के कारण वस्त्रत्याग नहीं है।

जिसके आत्मा की निर्मल, वीतराग, चारित्रदशा होती है उसके उस दशा के होने से पूर्व चारित्र को अंगीकार करने का विकल्प उठता है। जो विकल्प उठा सो राग है, उसके कारण वीतरागभावरूप चारित्र प्रगट नहीं होता, चारित्र तो उमी समय की पर्याय के पुरुषार्थ से प्रगट हुआ है।

चारित्रदशा में शरीर की नरदशा शरीर के कारण होती है। आत्मा को चारित्र अंगीकार करने का विकल्प उठा उसके कारण, अथवा चारित्रदशा प्रगट की इसलिये शरीर पर से वह हट गये, ऐसी बात नहीं है किन्तु उम समय वस्त्रों के परमाणुओं की अवस्था में क्षेत्रान्तरित होने की वैसी ही योग्यता थी इसलिये वे हट गये हैं। आत्मा ने विकल्प किया इसलिये उस विकल्प के आधीन होकर वह छूट गये,—यदि ऐसा हो तो विकल्प कर्ता हुआ और जो वस्त्र छूटे वह उसका कर्म हुआ अर्थात् दोनों द्रव्य एक हो गये। इसी प्रकार ऐसा भी नहीं है कि वस्त्र छूटना ये इसलिये जीव के

विकल्प उद्यम है क्योंकि यदि ऐसा ही तो उद्यम का पर्याय कर्ता और वह विकल्प उद्यम का उद्यम कहलायेगा और उस प्रकार दो उद्यम एक ही जायेंगे। किन्तु जब स्वभाव के भानपूर्वक चारित्र का विकल्प उद्यम है और चारित्र प्रकृत करता है तब उद्यम छूटने का प्रसंग मन्त्र ही उसके कारण न होना है। किन्तु 'मैंने वस्त्रों का त्याग किया अथवा मेरा विकल्प निमित्त हुआ, इसलिये उद्यम छूट गया तभी मायता मिथ्यात्व है'। वीतराग चारित्र से पूरे पचमहा प्रतादि का विकल्प भाव बिना नहीं रहता किन्तु उस विकल्प के भावप्रय से चारित्र दोग प्रकट नहीं होनी।

चारित्र में पचमहाप्रत के विकल्प का निमित्त क्या जाता है। विकल्प तो राग है उससे स्वभावो-मुक्त नहीं हुआ जाता किन्तु जब विकल्प को छोड़कर स्वभाव का भार उद्यम होता है तब पूरे के विकल्प का निमित्त कहा जाता है। पचमहाप्रतादि के विकल्प को चारित्र का निमित्त क्या कहा जाता है? यदि स्वभाव में लीनता का पुर्यात् करके चारित्र दोग प्रकट करे तो विकल्प उद्यम निमित्त कहा जा सकता है। किन्तु यह मायता मिथ्यात्व है कि— यदि पचमहाप्रत का विकल्परूप निमित्त है तो चारित्र प्रकट हो। इसी प्रकार व्यरहारद-न व्यरहारशन, और व्यरहारचारित्र के परिणाम हैं तो उससे निश्चय-दान-ज्ञान-चारित्र प्रकट है यह मायता भी मिथ्यात्व है।

१०— समय समय की स्वतंत्रता और भ्रमज्ञान ।

यह बात प्रत्यक्ष वस्तु के स्वतंत्र स्वभाव का है। स्वभाव की स्वतंत्रता का न समझ और यह मान कि 'निमित्त से होता है' तो वहीं सम्यक्-भ्रमता भी है और सम्पद-प्रदा के बिना इन मथा नी है मन्त्र का पत्र पत्र मन्त्र नहीं है मन्त्र मन्त्र नहीं है त्याग मन्त्र नहीं है। प्रत्यक्ष वस्तु में समय-समय का पर्याय ही स्वतंत्रता है। प्रत्यक्ष पदार्थ में उसके कारण उस समय का उद्यम पदार्थ का कारणता में कार्य होता है। पदार्थ का कारणता उपादान कारण है। और उस समय उस कार्य के लिए अनुष्ठान का कारण बिना प्रकट होता है, देह स्वतंत्रता। दूसरी

वस्तु-योग्यक्षेत्र में होती है, उसे निमित्त कहा जाता है, किन्तु उसके कारण से वस्तु में कुछ नहीं होता। ऐसी भिन्नता की यथार्थ प्रतीति भेदज्ञान है।

आत्मा और प्रत्येक परमाणु की पर्याय स्वतन्त्र हैं। जीव में पढ़ने का विकल्प उठा इसलिये पुरतक हाथ में आगई ऐसी बात नहीं; अथवा पुस्तक आगई इसलिये विकल्प उठा सो भी नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान होना या इसलिये पढ़ने का विकल्प उठा ऐसा भी नहीं है, और पढ़ने का विकल्प उठा इसलिये ज्ञान हुआ—सो भी नहीं है। किन्तु प्रत्येक द्रव्य ने उस समय स्वतन्त्रता में अपना अपना कार्य किया है। वीतरागी भेदविज्ञान यह बताता है कि—प्रतिममय प्रत्येक पर्याय अपने स्वतन्त्र उपादान ने ही कार्य करती हैं। वस्तुवस्वतः ऐसा परस्वीन नहीं है कि निमित्त आए तो उपादान का कार्य हो किन्तु उपादान का कार्य स्वतन्त्र होता है, तब निमित्त उनकी अपनी योग्यता से होता है।

१३—सूर्य का उदय हुआ इसलिये छाया से धूप हो गई, यह बात मिथ्या है।

छाया से धूप होने की परमाणु की अवस्था में जिस समय योग्यता होती है उसी समय धूप होती है, और उस समय सूर्य इत्यादि निमित्तरूप में हैं। किन्तु यह बात मिथ्या है कि सूर्य इत्यादि का निमित्त मिला इसलिये छाया से धूप हो गई। अथवा छाया में से धूप के रूप में अवस्था होनी, थी इसलिये सूर्य इत्यादि को आना पड़ा—यह बात भी मिथ्या है। सूर्य का उदय हुआ, सो यह अभी उस समय की योग्यता है, और जो परमाणु छाया से धूप के रूप में हुए हैं उनकी उस समय की वैसी ही योग्यता है।

१४—केवलज्ञान और वज्रवृषभनाराचमहनन-दोनों की स्वतन्त्रता।

जब केवलज्ञान होता है तब वज्रवृषभनाराचमहनन निमित्त होता है। किन्तु ऐसा नहीं है कि वह वज्रवृषभनाराचमहनन निमित्तरूप से है इसलिए केवलज्ञान है? और ऐसा भी नहीं है कि केवलज्ञान दोनों है इसलिये परमाणुओं को वज्रवृषभनाराचमहननरूप होना पड़ा। जब जीव की पर्याय में केवलज्ञान के पुस्तार्थ की जायति होती है तब दोनों के परमाणुओं में

वज्रहृषभनाराचं उहननरूप-अवस्था उसकी योग्यता से होती है। दोनों की योग्यता स्वतंत्र है किसी के कारण से बाई नहीं है। जय जीव एक केवल-ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता होता है तब शरीर के परमाणुओं में वज्रहृषभनाराच उहननरूप अवस्था की ही योग्यता होती है—एसा मेल स्वभाव से ही-है। बाई एक दूसरे के कारण से नहीं है।

(३—पैट्रोल समाप्त हो गया, इसलिए मोटर रुक गई, यह बात सच नहीं है।

बाई 'माटर' खनी जा रही हो और उसकी पेट्रोल की टंकी के पूट जान' से उसमें से पेट्रोल निकल जाये और खनी हुई मोटर रुक जाये ता वही यह जग समझता। चाहिये कि पेट्रोल निकल गया है इसलिये माटर रुक गई है। जिस समय माटर में गतिरूप अवस्था की योग्यता होता है उस समय वह गति करती है, उसी समय पेट्रोल का प्रवाह मोटर की टंकी-के छत्र में रहने की होती है। किन्तु यह बात निश्चय है कि पेट्रोल है इसलिये माटर चलती है। माटर का प्रत्येक परमाणु अपना स्वतंत्र-मियापतीरक्ति की योग्यता से गमन करता है। इसलिये यह बात ठीक नहीं है कि-पैट्रोल निकल गया इसलिये माटर का गति रुक गई है। जिस जग में जिस समय रुकने की योग्यता की टंकी केन में और टंकी समय माटर रुकी है और पेट्रोल के परमाणु भी अपनी योग्यता से चलते हुए हैं। यह बात 'सच नहीं है कि पैट्रोल समाप्त हो गया इसलिये माटर रुक गई है।

(६—बाणी आपन आप (परमाणुओं से) जोली जानी है, जीव समझता नहीं।

बाणी का निरूप-राग हुआ इसलिये बाणी वाली गद-गदानी के और बाणी वाली जान वाली भी इसलिये निरूप हुआ— एसा ही नहीं है। बाणी राग के कारण बाणी वाली जानी है (राग बन) और बाणी उम। इन कारणों से। और यदि एउ है कि बाणी की गत गत बाणी की गति से राग हुआ, तो बाणी के परमाणु फल और राग उमल बन कराना। किन्तु

राग तो जीव की पर्याय है और वाणी परमाणु की पर्याय है—उनके कर्ता कर्म भाव कर्ता से होगा ? यदि जीव की पर्याय की योग्यता हो तो राग होता है और वाणी उस परमाणु का उस समय का सहज परिणामन है । जब परमाणु स्वतंत्रतया वाणीरूप से परिणमित होते हैं तब जीव के राग हो तो उसे निमित्त कहा जाता है । केवली भगवान के वाणी होती है तथापि राग नहीं होता ।

१७—शरीर अपनी योग्यता से चलता है, जीव की इच्छा से नहीं ।

जीव इच्छा करता है इसलिये शरीर चलता है, यह बात नहीं है । और शरीर चलता है इसलिये जीव के इच्छा होती है ऐसा भी नहीं है । शरीर के परमाणुओं में जब क्रियावतीशक्ति की योग्यता से गति होती है, तब किसी जीव के अपनी अवस्था की योग्यता से इच्छा होती है और किसी के नहीं भी होती है । केवली के शरीर की गति होने पर भी इच्छा नहीं होती । इच्छा के निमित्त से शरीर चलता है—यह बात मिथ्या है, और यह बात भी मिथ्या है कि गति के निमित्त से इच्छा होती है ।

१८—विकल्प निमित्त है इसलिये ध्यान जमता है— यह बात सच नहीं है ।

चैतन्य के ध्यान का विकल्प उठता है सो राग है उस विकल्प रूपी निमित्त के कारण से ध्यान जमता हो सो बात नहीं है, किन्तु जहां ध्यान जमता हो वहां पहले विकल्प होता है । विकल्प के कारण ध्यान नहीं होता, और ध्यान के कारण विकल्प नहीं होता । जिस पर्याय में विकल्प था वह उस पर्याय की स्वतंत्र योग्यता से था, और जिस पर्याय में ध्यान जमा है वह उस पर्याय की स्वतंत्र योग्यता से जमा है ।

१९—सम्यक् नियतिवाद और उसका फल ।

प्रश्न —यह तो नियतिवाद हो गया ?

उत्तर:—यह सम्यक् नियतिवाद है, मिथ्या नियतिवाद नहीं है । सम्यक् नियतिवाद का अर्थ क्या है ? जिस पदार्थ में, जिस समय, जिस क्षेत्र में,

जिम निमित्त से जसा ज्ञान है वैसा होता ही है उसमें किंचित्मान भी परिवर्तन करने के लिये कोई समय नहीं है—ऐसा ज्ञान में निर्णय करना जो सम्बन्ध नियतिवाद है और उस निर्णय में स्वभाव की ओर का झनन पुरुष पाषे भा जाता है। जिम ज्ञान न यह निर्णय किया कि सभी नियति है उन ज्ञान में यह भी निर्णय हो गया कि जिमी भी द्रव्य में कुछ भी परिवर्तन करने के लिये मैं समर्थ नहीं हूँ। इस प्रकार निमित्त का निर्णय करने पर 'मैं पर का कुछ कर सकता हूँ' ऐसा झनन दूर हो गया और ज्ञान पर सदापीन हाकर स्वभावोन्मुख हो गया।

झपना पर्याय भी कमबद्ध ही है। उस कमबद्धता का निर्णय करने वाला ज्ञान राग के होने पर भी उसका निषेध करके स्वभाव का ओर उन्मुख होता है। जस राग जो जानता है तब ज्ञान में ऐसा विचार करता है कि मेरी कमबद्ध पर्यायों में द्रव्य में से प्रकट होती है त्रिकाल-द्रव्य ही एक के बाद एक पर्याय को प्रकट करता है वह त्रिकाल-द्रव्य रागस्वरूप नहीं है, इतलिय वह जो राग हुआ है जो भी मेरा स्वभाव नहीं है और मैं उसका क्या नहीं हूँ। इस प्रकार सम्बन्ध नियतिवाद का झपने ज्ञान में जिमन निर्णय किया उस चीज का ज्ञान झपने शुद्ध स्वभाव की ओर उन्मुख होता है और उसका स्वभाव में भ्रष्टा ज्ञान होते है। वह पर से उदासीन हुआ राग का झपना हुआ और पर से तथा निमित्त से हाकर उसका यदि स्वभाव में ही एक गई यह सम्बन्ध नियतिवाद का कल है। इसमें ज्ञान और पुरुषाय का स्वाति है। किन्तु जो जीव नियतिवाद का मानता है अर्थात् यह मानता है कि जसा ज्ञान होगा वैसा होगा परन्तु नियतिवाद के निर्णय में झपना जो ज्ञान और पुरुषाय झपना है—जसा स्वीकार नहीं करता अर्थात् स्वभावोन्मुख नहीं होता वह नियतिवाद है और नियतिवाद गृहीतमिथ्यात्व का भद है अतिय वह गृहीतमिथ्यात्व है।

२०—सम्बन्ध नियतिवाद में, पुरुषाय इत्यादि पाँचाँ ममत्राय एक साथ है। जो झपानी यथाय निर्णय नहीं कर सकते उन्हें ऐसा लगता है कि यह तो एतन्त नियतिवाद है। किन्तु इस नियतिवाद का यथाय निर्णय करने

पर अपने केवलज्ञान का निर्णय हो जाता है। गुरु, शिष्य, यात्रा इत्यादि निरंतर पदार्थों की गति-समय जो योग्यता होती है वही पर्याय होती है। ऐसा निश्चय क्रिया-क्रि-स्वयं-उत्पन्नता रह गया, जानने में-विरूप नहीं है- अन्धियता का जो विकल्प उठता है उसका कर्ता नहीं है। इस प्रकार क्रम-पर्याय का श्रद्धा होने पर-दृष्टि होने पर-गण-का कर्तृत्व उड-जाता है। ऐसे सम्यक्-नियतिवाद की श्रद्धा में ही पाँचों-समवाय एक साथ समा जाते हैं। पहले तो स्वभाव का ज्ञान और श्रद्धा-की जो पुरुषार्थ, उसी समय जो निर्मल पर्याय प्रगट होनी नियत की जो वही पर्याय प्रगटो है-वह नियति-उप-समय-जो पर्याय प्रगट हुई वही स्वभाव और जो पर्याय प्रगट हुई-वह-स्वभाव में श्रद्धा-प्रगट हुई है इसलिये वह स्वभाव और उस समय-पुण्यकर्म-का स्वयं-प्रभाव होता है-जो-अभारूप-निमित्त एवं सद्गुरु इत्यादि हो-सो वे स्वभाव-रूप निमित्त है। क्रमवद्ध पर्याय ही होती है। इसकी श्रद्धा करने पर-अथवा सम्यक्-नियतिवाद-का-निर्णय-करने पर-जीव-जगत-का साक्षी हो-जाना है। इसमें स्वभाव का अनन्त-पुरुषार्थ-समा-जाता-है, यह जैनदर्शन का मूलभूत रहस्य है।

२१—सम्यक् नियतिवाद और मिथ्या नियतिवाद

गोमन्त्रसार-कर्मकाण्ड की श्लोकांशु-गीता में जिस नियतिवादी जीव को अगृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है वह जीव तो नियतिवाद की बात करता है, किन्तु अपने ज्ञान में ज्ञाता-दृष्टापन-का पुरुषार्थ-नहीं करता। यदि सम्यक् नियतिवाद का अर्थ-निर्णय-करे तो उसमें स्वभाव के ज्ञाता-दृष्टापन का पुरुषार्थ-आ ही जाता है। किन्तु वह जीव तो मात्र परलक्ष से ही नियतिवाद को मान रहा है और नियतिवाद के निर्णय में अपना जो ज्ञान और पुरुषार्थ कार्य करता है उसे वह स्वीकार नहीं करता। इसलिये वह जीव-मिथ्यानियतिवादी है। और उसी को अगृहीतमिथ्यात्वी कहा है। नियतिवाद का सम्यक्-निर्णय-अगृहीत-एवं-अगृहीत-मिथ्यात्व का नाश करने वाला है। सम्यक्-नियतिवाद कहो-न्या-स्वभाव कहे, उसमें उस-प्रत्येक-समय-की-पर्याय-की-स्यतत्र-सिद्ध-हो

जानी है । यदि इस न्याय को जीव बराबर समझ तो उपादान निमित्त सम्बन्धी सभी गन्ध दूर हो जाय । क्योंकि जिस पदार्थ में जिस समय का पर्याय होनी है वही होनी है ता फिर अमुक निमित्त चाटिये अथवा अमुक निमित्त क चिा नहीं हो सक्ती' एसी बात को अत्रकाश ही कहा है । सम्यक् नियतिवाद का निर्णय करने में पुरपाय आता है सच्ची धृष्टा-मान प्राय करता है । स्वभाव में बुद्धि रहनी है- तथापि उस समय का जीव नहीं मानता और नियतिवाद की बात करता है उन जीव को एकात्मिक गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा गया है । किन्तु जो जीव नियतिवाद को मानकर पर क और राग के कर्तृत्व का अभान करता है तब क्षता-दृष्टापन का साक्षी भाव प्रगट करता है, व जीव अनन्त पुष्पायी सम्प्रगृष्टि है ।

२०— कौन कहता है कि सम्यक् नियतिवाद गृहीतमिथ्यात्व है ?

सम्यक् नियतिवाद गृहीतमिथ्यात्व नहीं, किन्तु वीतरागता का कारण है । जो ऐसे सम्यक् नियतिवाद को एकात्म मिथ्यात्व कहते हैं उन्होंने इस बात का यथार्थतया समझा तो क्या किन्तु भी भौतिक सुनातन नहीं है । 'समस्त पदार्थों में जसा होना होता है वसा ही होता है । यह निश्चय करने पर एक पर्याय से दृष्टि हटकर त्रिफल की और लम्बायमान होनी है अर्थात् द्रव्यदृष्टि हो जाती है, अर्थात् पर को और अपन का वामान पर्यायमान तक ही न माना किन्तु स्थायी मान लिया । आत्मा या सदा का स्वभाव शुद्ध राग रहित है अतः नियत वह जीव राग का अरता हुआ और पर पदार्थ को चिरम्यायी माना अर्थात् उन पदार्थों में उनकी त्रिफला की पर्यायों की योग्यता विद्यमान है तदनुसार ही उसी अरम्भा स्वतंत्रतया हानी है ।

इस प्रकार सम्यक् नियतिवाद के निर्णय में स्वतंत्रता की प्रतीति है । अपनी अररया का आधार रखे है और द्रव्यभाव बुद्धि है एसी प्रतीति के साथ जो हाना हा सा होता है' इस प्रकार जो मानता है सो वह जीव वीतरागदृष्टि है । यह नियतिवाद वीतरागता का कारण है ।

नियतिवाद के दो प्रकार हैं—एक सम्यक् नियतिवाद और दूसरा मिथ्या-नियतिवाद । सम्यक् नियतिवाद वीतरागता का कारण है, उमंग स्वरूप ऊपर बताया है । बोधे जीव इस प्रकार नियतिवाद को मानता तो है कि 'जैसा होना हो वैसा ही होता है' किन्तु पर का लज और पर्यायदृष्टि को छोड़कर स्वभावोन्मुख नहीं होता । जो नियतिवाद का निश्चय करनेवाला अपने ज्ञान और पुरुषार्थ की स्वतंत्रता को स्वीकार न करे, पर के और विकार के कर्तृत्व के अभिमान को न छोड़े—इस प्रकार पुरुषार्थ में उठाकर स्पन्दना से प्रवृत्ति करे—उसे गृहीतमिथ्यादृष्टि कहा है ।

‘जो होना हो सो होता है’ इस प्रकार मात्र परलज से माना है सो यथार्थ नहीं है, ‘होना हो सो होता है’ यदि ऐसा यथार्थ निर्णय हो तो जीव का ज्ञान पर के प्रति उदासीन होकर अपने स्वभाव की ओर झुक जाये, और उस ज्ञान में यथार्थ शांति हो जाये । उस ज्ञान के साथ ही पुरुषार्थ, नियति, काल, स्वभाव और कर्म—यह पाँचों समवाय आजाते हैं ।

२३—मिथ्या नियतिवाद के उपलक्षण ।

प्रश्न—मिथ्या नियतिवादी जीव भी जब परवस्तु विगड जाती है अथवा नष्ट हो जाती है, तब यह मानकर शांति तो रखता ही है कि ‘जैसा होना था सो हो गया,’ तब फिर उसके सम्यक् नियतिवाद का निर्णय क्यों न माना जाये ?

उत्तर—यह जीव जो शांति रखता है नो यथार्थ नहीं है, किन्तु मन्द-कषायरूप शांति है । यदि नियतिवाद का यथार्थ निर्णय हो तो, जिस प्रकार उस एक पदार्थ का जैसा होना था सो हुआ उन्ही प्रकार समस्त पदार्थों का जैसा होना हो सो वैसा ही होता है,—ऐसा भी निर्णय होना चाहिये । और यदि ऐसा हो तो फिर यह सब मान्यता दूर हो जाती है कि ‘मैं परद्रव्य का निमित्त होऊँ तो उसका कार्य हो, निमित्त हो तो ही कार्य होता है, किसी समय निमित्त की प्रवृत्तता होती है ।’ ‘सब नियत है’ अर्थात् जिस कार्य में, जिस समय, जिस निमित्त की उपस्थिति रहनी हो उस कार्य में, उस समय,

यह निमित्त स्वयमेव होना ही है । तब फिर ऐसी मान्यताओं को अस्वीकार ही बड़ा रहेगा कि 'निमित्त मिलाना चाहिये,' अथवा निमित्त की उपेक्षा नहीं की जा सकती, अथवा निमित्त न हो तो कार्य नहीं होता । यदि सम्यक् नियतिवाद का निष्पत्ति हा तो निमित्ताधीनत्व दूर हो जाती है ।

२५—मिथ्यानियतिवाद की 'गृहीत' मिथ्यात्व क्यों कहा है ?

प्रश्न—मिथ्यानियतिवाद को गृहीतमिथ्यात्व क्यों कहा है ?

उत्तर—निमित्त से घम होता है राग से घम होता है शरीरारि का आत्मा कुछ कर सकता है, एही मान्यता के रूप में अगृहीतमिथ्यात्व अनादि काल से विद्यमान था । और तब क बाद शत्रुओं का पटक अथवा अगुरु इत्यादि क निमित्त से मिथ्या-नियतिवाद का नवान कदाग्रह ग्रहण किया गया उसे गृहीतमिथ्यात्व कहा जाना है । पहले जैसे अनादिका अन अगृहीतमिथ्यात्व होता है उन्ही का गृहीतमिथ्यात्व होना है । जीव इन्द्रिय-विषयो भी पुष्टि के निय 'जा हाना हागा सो हागा' एसा कहकर सात्त्व में राना हान की आदत से एक स्वच्छन्दता का मार्ग लूट निशालत है अथवा नाम गृहीत मिथ्यात्व है और यह सम्यक् नियतिवाद स्वभावगत है स्वतन्त्रता है, अतिरागता है ।

२६—सम्यक् नियतिवाद क निष्पत्ति से निमित्ताधीनत्व और स्व-पर की एकत्व-बुद्धि दूर हो जाती है ।

जिस वस्तु में जिस समय जसी पयाय हानी हा और जिस निमित्त की उपस्थिति न होनी हा, उस वस्तु में उस समय वसा पयाय होती हा और क निमित्त ही उस समय होते हैं न तो दूसरी पयाय हाना है और न दूसरा निमित्त होता है । सम नियम से तीर टोक और तांग तांग में बाई परिवर्तन नहीं होता । यही पयाय नियति का निर्णय है हममें आत्मस्वभाव क अज्ञा, हान चारित्र आगत है और निमित्त क उपेक्षा ही दूर हो जाती है । जिसका ऐसी मान्यता है कि 'मैं पर का कृता ता नहीं हूँ, किन्तु मैं

पर का निमित्त होऊँ वह मिथ्यादृष्टि है। स्वयं निमित्त है श्मशाने पर न कार्य होता है—ऐसी बात नहीं है, किन्तु प्रस्तुत वस्तु में उसकी योग्यता ने जो कार्य होता है उसमें अन्य वस्तु को निमित्त कहा जाता है। 'नै निमित्त होऊँ' इसका अर्थ यह हुआ कि वस्तु में कार्य नहीं होना या किन्तु में निमित्त हुआ तब उसमें कार्य हुआ अर्थात् वह तो रज-पर में पदार्थ-बुद्धि ही हुई।

२६— लकड़ी अपने आप ऊँची उठती है, हाथ के निमित्त से नहीं।

'यह लकड़ी है, उसमें ऊपर उठने की योग्यता है, किन्तु जब मेरा हाथ उसे स्पर्श करता है तब वह उठती है अर्थात् जब मेरा हाथ उसके लिये निमित्त होता है तब वह उठती है।' ऐसा मानने वाले जीव वस्तु की पर्याय को स्वतंत्र नहीं मानते अर्थात् उनकी संयोगीदृष्टि है, वे वस्तु के स्वभाव को ही नहीं मानते, इसलिये मिथ्यादृष्टि है। जब लकड़ी ऊपर नहीं उठती तब उसमें ऊपर उठने की योग्यता ही नहीं है, और जब उसमें योग्यता होती है तब वह स्वयं ऊपर उठती है, वह हाथ के निमित्त से ऊपर नहीं उठती, किन्तु जब वह ऊपर उठती है तब हाथ इत्यादि निमित्त स्वयमेव होते ही हैं। इस प्रकार उपादान निमित्त का मेल स्वभाव से ही होता है। निमित्त का ज्ञान कराने के लिये यों कहने का मात्र व्यवहार है कि 'हाथ के निमित्त से लकड़ी ऊपर उठी है।'

२७— लोहचुम्बक सुई को नहीं खींचता।

लोहचुम्बक की ओर लोहे की सुई खिंचती है, वहाँ लोहचुम्बक सुई को नहीं खींचता किन्तु सुई अपनी योग्यता से ही गमन करती है।

प्रश्न—यदि सुई अपनी योग्यता से ही गमन करती हो तो जब लोहचुम्बक उसके पास नहीं था तब उसने गमन क्यों नहीं किया ? और जब लोहचुम्बक निःशुद्ध गया तभी क्यों गमन किया ?

उत्तर—पहले सुई में गमन करने की योग्यता ही नहीं थी, इसलिये उस समय लोहचुम्बक उसके पास (सुई को खींचने योग्य क्षेत्र में) हो ही नहीं

सकता । और जब मुई में क्षेत्रान्तर करन की योग्यता होती है तब लोह चुम्बक और उनका बीच अंतराय हो ही नहीं सकता । ऐसा ही उपादान निमित्त का सब धर्म कि दोनों का मेल होता है । तथापि एक दूसरे के कारण से भिन्नी की क्रिया नहीं होती । मुई का गमन करने की योग्यता हुई इसलिये लोहचुम्बक निम्न आया—यह बात नहीं है, और लोहचुम्बक निम्न आया इसलिये मुई रिचमर्ग ऐसा भी नहीं है किन्तु जब मुई की क्षेत्रान्तर होने की योग्यता होती है उसी समय लोहचुम्बक में उस क्षेत्र में हो रहन की योग्यता हाता है—इसी का नाम निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है ।

२८—निमित्तपन की योग्यता ।

प्रश्न—जब कि लोहचुम्बक मुई में कुछ भी नहीं करता तो फिर उसी को निमित्त क्या कहा है ? अन्य सामान्य पत्थर को निमित्त क्यों नहीं कहा ? जैसे लोहचुम्बक मुई में कुछ नहीं करता तथापि वह निमित्त कहलाता है तब फिर लोहचुम्बक की भौति अन्य पत्थर भा मुई में कुछ नहीं करते, तथापि उसे निमित्त क्यों नहीं कहा जाता ?

उत्तर—उस समय उस क्रय के लिये लोहचुम्बक पत्थर में ही निमित्तपन की योग्यता है अथवा उपादान के कार्य के लिये अनुकूलता का आरोप की जान योग्य शक्ति लोहचुम्बक की उस समय की प्रकृति में है दूसरे पत्थर में कभी योग्यता उस समय नहीं है । जैसे मुई में उपादानता की योग्यता है इसलिये वह रिचती है इसी प्रकार उसी समय लोहचुम्बक में निमित्तपन की योग्यता है, इसलिये उस निमित्त कहा जाता है । एक समय की उपादान की योग्यता उपादान में है और एक समय का निमित्त की योग्यता निमित्त में है किन्तु दोनों की योग्यता का मेल है इसलिये अनुकूल निमित्त कहलाता है । लोहचुम्बक में निमित्तपन की जो योग्यता है उसे अन्य उपादान पदार्थों में प्रकृत करके यदि दानन के लिये 'निमित्त' कहा जाता है, किन्तु उसके कारण उस मुई में निमित्तपन नहीं होती । जब उपादान में कार्य होता है तब व्यन्धन से, आरोप से दूसरे पदार्थ का

निमित्त कहा जाता है। इन का स्वभाव स्वप्न-प्रकाशक है इसलिए वह उपादान और निमित्त दोनों में जानता है।

२६—निमित्त का स्वप्न स्मरण के लिये धर्मास्तिकाय का दृष्टांत।

सभी निमित्त 'धर्मास्तिकाय' है (देखो दृष्टोपदेश गात्र ३५) धर्मास्तिकाय पदार्थ लोक में सर्वत्र है। जब वस्तु अपनी योग्यता से चरती है तब धर्मास्तिकाय को निमित्त कहा जाता है और जब वस्तु नहीं चरती तो उसे निमित्त नहीं कहा जाता। धर्मास्तिकाय की भाँति ही सम्स्त निमित्तों का स्वप्न समझना चाहिये। धर्मास्तिकाय से निमित्तपन की ऐसी योग्यता है कि पदार्थ गति करते हैं तब उन्हीं में उसे निमित्त कहा जाता है, किन्तु निमित्त कहाने की योग्यता तो धर्मास्तिकाय में है।

३०—भिद्व भगवान् अलोक में क्यों नहीं जाते ?

सिद्ध भगवान् अपनी क्षेत्रान्तर की योग्यता से जब एक समय में लोकान्त में गमन करते हैं तब धर्मास्तिकाय को निमित्त कहा जाता है, परन्तु कहीं धर्मास्तिकाय के प्रभाव के कारण उनका प्रचोक में गमन नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। वे लोकान्त में स्थित होते हैं सो वह भी उनकी ही वैसी योग्यता उन कारण से है उस समय धर्मास्तिकाय को निमित्त कहा जाता है।

प्रश्न—भिद्व भगवान् लोकाकारा के बाहर गमन क्यों नहीं करते ?

उत्तर—उनकी योग्यता ही ऐसी है, क्यों कि वह लोक का द्रव्य है और उनकी योग्यता लोक के अन्त तक ही जाने की है लोकान्त से बाहर जाने की उनमें योग्यता ही नहीं है। 'अलोक में धर्मास्तिकाय का प्रभाव है इसलिए सिद्ध वहाँ गमन नहीं करते' ("धर्मास्तिकायभावात्") यह मात्र व्यवहारनय का ग्रन्थ है, अर्थात् उपादान में स्वयं ब्रह्मोत्पत्तिकाय में जाने की योग्यता नहीं होती तब निमित्त भी नहीं होता ऐसा उपादान निमित्त का नेत्र बताने के लिये वह स्पष्ट है।

३१—प्रत्येक पदार्थ का कार्य स्वतंत्र है।

किसी न अपन मुनीम को पत्र दिया कि पाँच हजार रुपया बैंक में जमा करा जना और मुनीम न बैंक में रुपया जमा करा दिया। यहाँ पर जोर न पत्र दिग्ने का विकल्प किया इसलिए पत्र लिखा गया ऐसी बात नहीं है और ऐसा भी नहीं है कि पत्र थाया इसलिए मुनाम क बैंक में रुपया जमा करान का विकल्प हुआ तथा ऐसा भी नहीं है कि मुनीम के विकल्प लगा इसलिए बैंक में रुपया जमा हुए। इसी प्रकार रुपया बैंक में जमा होना व इसके मुनीम के मन में विकल्प उठा-एना भी नहीं है इसी प्रकार प्रत्येक में समझ लेना चाहिये। इस प्रकार जीव का विकल्प स्वतंत्र है जब मुनीम को विकल्प उठा तब पत्र निमित्त कहलाया तथा बैंक में जान की रुपयों की समस्या हुई तब मुनाम क विकल्प को उमका निमित्त कहा गया।

३२—निमित्त क कारण उपादान में विलक्षण वशा नहीं होती।

प्रश्न—उपादान में निमित्त कुछ नहीं करता यह बात सच है किंतु जब निमित्त होता है तब उपादान में विलक्षण समस्या तो होती ही चाहिये। जैसे अग्नि की निमित्त क धागे पर पानी को उष्ण होना ही चाहिये।

उत्तर—यह बात मिस्या है जिस पानी की पर्याय का स्वभाव उभी समय गर्म होने का था वही पानी उभी अग्नि क संयोग में थाया और अपनी योग्यता से स्वय ही गर्म हुआ है अग्नि के कारण उसे विलक्षण होना पना ही सो बात नहीं है और अग्नि न पानी का गर्म नहीं किया है।

३२—मिथ्यादृष्टि संयोग को उग्रता है, और सम्यक्दृष्टि स्वभाव को देयता है।

“अग्नि से पानी गर्म हुआ है”—ऐसी जो मान्यता है जो संयोगातीत पराधीनदृष्टि है, और पानी अपनी योग्यता से ही गर्म हुआ है—ऐसी जो मान्यता है सा स्वतंत्र स्वभावदृष्टि है। जो संयोगाधीनदृष्टि है जो सम्यक्दृष्टि है।

मिथ्यादृष्टि जीव वस्तु के स्वभाव की समय समय की योग्यता से प्रत्येक कार्य होता है, उन स्वभाव को नहीं देखता किन्तु निमित्त के योग को देखता है, यही उनकी परावीनदृष्टि है। और उन दृष्टि से कभी भी पर की एकत्व-बुद्धि दूर नहीं होती। सम्यग्दृष्टि जीव स्वतंत्र वस्तुस्वभाव को देखता है कि प्रत्येक वस्तु की समय समय की योग्यता से ही उनका कार्य स्वतंत्रता से होता है।

३४—उपादान और निमित्त दोनों की स्वतंत्र योग्यता।

(वत्स और अग्नि)

वत्स में जिस समय, जिस जेब में, जिस संयोग में जलने की योग्यता होती है उस समय, उस जेब में, उस संयोग में उनकी जलने की पर्याय होती है, और अग्नि उस समय स्वयं होती है। अग्नि जाई इमजिये वत्स जल गया ऐसी बात नहीं है, और ऐसा भी नहीं है कि वत्स में जल जाने की अवस्था होने की योग्यता हो, किन्तु अग्नि या इमरा योग्य संयोग न मिले तो वह अवस्था स्व जाती है। जिस समय योग्यता होती है उसी समय वह अवश्य जलता है और उस समय अग्नि भी उपस्थित होती है। तथापि अग्नि की उपस्थिति के कारण वत्स की अवस्था में कोई भी विलक्षणता नहीं होती। यह मान्यता मिथ्या है कि अग्नि ने वत्स को जला दिया है।

यदि कोई पूछे कि—वत्स के जलते समय असुक्र ही अग्नि थी और दूसरी अग्नि नहीं थी, इसका क्या कारण है? उसका उत्तर यह है कि उस समय जो अग्नि थी उसी अग्नि में निमित्तता की योग्यता थी, दूसरी अग्नि हो ही नहीं सकती, क्योंकि उसमें निमित्तता की योग्यता ही नहीं थी। उपादान के समय जिस निमित्त की योग्यता होती है वही निमित्त होता है; दूसरा हो ही नहीं सकता। सबकी अपने कारण से अपनी अवस्था हो रही है। वहाँ अज्ञानी यह मानता है कि—‘यह निमित्त से हुआ है अथवा निमित्त ने किया है।’

२५—उपादान और निमित्त दोनों की स्वतंत्र योग्यता ।

(आत्मा और कर्म)

आत्मा अपनी पथाय में तब राग-द्वेष करता है तब कर्म के दिन परमाणुओं की योग्यता होती है व उदयरूप होते हैं वन न ही ऐसा नहीं हो सकता किन्तु वन उदय में आया इन्द्रिय जीव के राग द्वेष हुआ, यह मायता मिथ्या है । और राग-द्वेष किन्ना इन्द्रिये वन आया यह मान्यता भी मिथ्या है । जीव क अपने पुम्पान की शक्ति से रागद्वेष शान की योग्यता भी शीघ्रिय राग-द्वेष हुए हैं और उस समय तब वनों का योग्यता भी व कर्म उदय में आये हैं और उन्हीं का निमित्त बना जाता है किन्तु उम वन क कारण जीव की पथाय में रागद्वेष या विलक्षणता नहीं हुई है ।

तब शान का पथाय अणुण हो तब ज्ञानावरण कर्म में हा निमित्तपन की योग्यता है । जीव की पथाय में जब जीव मोह करता है तब मोहनर्म का ही निमित्त बना जाता है, एसी उत वनपरमाणुमा की योग्यता है । ऐसे उपादान में प्रतिसमय स्वतंत्र योग्यता है उती प्रकार निमित्त क रूप में मोहनर्म क प्रत्येक परमाणु म समय-समय का स्वतंत्र योग्यता है ।

प्रश्न—क्या यह सब नहीं है कि जब तब रागद्वेष किय इन्द्रिय परमाणुमा में वन भरहना हुआ है ?

उत्तर—हाँ अमुक परमाणु ही वनस्प हुए और जगत् क हमरे परमाणु क्यों नहीं हुए ?—शक्ति तब तब परमाणुओं में योग्यता की घटी परमाणु वनस्प पण्डित हुए हैं । वे अपनी योग्यता से ही वनस्प हुए हैं तब क रागद्वेष क कारण नहीं ।

२६—परमुखापत्ती नहीं होना है, किन्तु अपने पर ही वनस्प है ।

प्रश्न—जब परमाणुओं म वनस्प शान की योग्यता होती है तब आत्मा को रागद्वेष वनस्प ही शक्ति, क्यों कि परमाणुओं में वनस्प शान का उपादान है इन्द्रिय घटी जीव क विकाररूप निमित्त होता ही शक्ति कया सदा पान टीक है ?

उत्तर— यह प्रश्न ही अज्ञानी का है। तुम्हें अपने स्वभाव में देखने का नाम है या परमाणु में देखने का ? जिसकी दृष्टि स्वतंत्र हो गई है वह आत्मा की ओर देखता है, और जिसकी दृष्टि निमित्ताधीन है वह परमुखापेक्षी होता है। जिसने यह अर्थ निर्णय किया है कि 'जब जिस वस्तु की जो अवस्था होनी हो वही होती है,' उसके द्रव्यदृष्टि होती है—स्वभावदृष्टि होती है। उसकी स्वभावदृष्टि में तीव्ररागादि होते ही नहीं, और उस जीव के निमित्त से तीव्रकर्तृत्व परिणमित होने की योग्यता वाले परमाणु ही इस जगत् में नहीं होते। जीव ने अपने स्वभाव के पुरुषार्थ में सम्यक्दर्शन प्रगट किया वहाँ उस जीव के लिये मिथ्यात्वादि कर्मत्त्व से परिणमित होने की योग्यता विषय के किसी परमाणु में होती ही नहीं है। सम्यक्दृष्टि के जो अल्प रागद्वेष हैं वह अपनी वर्तमान पर्याय की योग्यता से हैं, उस समय अल्पकर्मत्त्व से बंधने की परमाणु की पर्याय में योग्यता है। इस प्रकार स्वलज से प्रारम्भ करना है।

'जगत् के परमाणुओं में मिथ्यात्वादि कर्मत्त्व होने की योग्यता है, इसलिये जीव के मिथ्यात्वादि भाव होना ही चाहिये।' जिसकी ऐसी मान्यता है वह जीव स्वद्रव्य के स्वभाव को नहीं जानना, और इसलिये उस जीव के निमित्त से मिथ्यात्वादित्त्व परिणमित होने योग्य परमाणु इस जगत् में विद्यमान हैं ऐसा जानना चाहिये। किन्तु स्वभावदृष्टि में देखने वाले जीव के मिथ्यात्व होता ही नहीं, और उस जीव के निमित्त से मिथ्यात्वादित्त्व परिणमित होने की योग्यता ही जगत् किसी परमाणु में नहीं होती। स्वभावदृष्टि से ज्ञानी विकार के अकर्ता हो गये हैं, इसलिये यह बात ही मिथ्या है कि 'ज्ञानी को विकार करना पड़ता है'। जो अल्पविकार होता है तो भी स्वभावदृष्टि के बल से पुरुषार्थ के द्वारा दूर होता जाता है। ऐसी स्वतंत्र स्वभावदृष्टि (सम्यक्-श्रद्धा) धिये बिना जीव जो कुछ शुभभाक्त्त्वव्रत, तप, त्याग करता है वह सब 'अरण्यरोदन' के समान मिथ्या है।

३७—'फूँक से पर्वत को उड़ाने की बात' !

शंका—'वस्तु में जब जो पर्याय होनी होती है तो होती है और

तब निमित्त अवश्य होता है, किन्तु निमित्त कुछ नहीं करता और निमित्त क द्वारा कोई कार्य नहीं होता 'यह तो फक स पत्र को उडाने जैसी बात है ?

समाधान— नहीं, यहाँ पूँक से पत्र का उडान की बात नहीं है। पत्र क अनन्त परमाणुओं में उडन की योग्यता हो तो पत्र अन भाव उडता है। पत्र को उडान के लिये पूँक ही भी आवश्यकता नहीं है। यहाँ भिमी क मा में यह हो सकता है कि 'अरे यह कैसी बात है। क्या पत्र भी अन भाव उडत होंग ?' किन्तु भाई ! वस्तु में जा काम होता है (जा पयाय गेना है) वह उसरी अननी ही शक्ति से योग्यता से धती है। वस्तु की गतिर्या अन की अनचा नहीं रानी। परवन्तु का उसमें भाव है तो वह क्या करे ?

३८—उदासीन निमित्त और प्रेरक निमित्त।

प्रश्न—निमित्त के ता प्रकार है—एक उदासीन दूसरा प्रेरक। इनमें से उदासीन निमित्त कुछ नहीं करता परन्तु प्रेरक निमित्त तो उपादान को कुछ प्रेरणा करता है ?

उत्तर—निमित्त क भिन्न भिन्न प्रकार बनाने क लिये यह दो भेद हैं किन्तु उनमें से कोई भी निमित्त उपादान में कुछ भी नहीं करता अनया निमित्त क कारण से उपादान में कोई विलक्षणता नहीं आती। प्रेरक निमित्त भी प्रेरणा नहीं करता। मभा निमित्त घमास्तिकायनर है।

प्रश्न—प्रेरक निमित्त और उपादान निमित्त का क्या परिभाषा है ?

उत्तर—उपादान का अनना से दो दोषों पर है दोनों अनिच्छितक ह इसलिये दोनों समान है। निमित्त की अनचा से यह दो भेद है। जा निमित्त स्वय इन्द्रावन या गतिगन होता है वह प्रेरक निमित्त कहलाना है। और जो निमित्त स्वय स्थिर या इच्छरहित हात है वह उदासीन निमित्त कहलाना है। इच्छाना जीव और गतिगन अनवीध प्रेरक निमित्त हैं और इच्छरहित जीव तथा गतिहीन अनवीध उदासीन निमित्त हैं। परन्तु दोनों प्रकार क निमित्त

पर में विल्कुल कार्य नहीं करते। जब घटा बनता है तब उसमें कुम्हार और चाक प्रेरक निमित्त हैं, तथा वर्मास्तिकाय इत्यादि उदासीन निमित्त हैं।

यह बात सच नहीं है कि भगवान महावीर के समनगरण में गौतम-गणवर के आने से दिव्यध्वनि खिरी। और पहले ६६ दिन तक उनके न आने से भगवान की ध्वनि खिरने से रुती रही। वाणी के परमाणुओं में जिस समय वाणीरूप से परिणमित होने की योग्यता थी उस समय ही वे वाणीरूप में परिणमित हुये, और उस समय वहाँ गणधरदेव की अवश्य-भावी उपस्थिति थी। गणधर आये इसलिये वाणी कूटी ऐसी बात नहीं है। गणधर जिस समय आये उसी समय उनकी आने की योग्यता थी। ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। इसलिये हम तर्क को अवज्ञा ही नहीं है कि यदि गौतम गणवर न आये होते तो वाणी कैसे कूटी ?

३६—निमित्त न हो तो . ?

‘कार्य होना हो और निमित्त न हो तो . ?’ ऐसी शक्य करने वाले से ज्ञानी पूछते हैं कि ‘हे भाई ! इस जगत में तू जीव ही न होता तो ? यथवा तू अजीव होता तो ?’ तब शंकाकार उत्तर देता है कि— ‘मैं जीव ही हूँ, इसलिये दूसरे तर्क को स्थान नहीं है।’ तब ज्ञानी कहते हैं कि— ‘जैसे तू स्वभाव से ही जीव है इसलिये उसमें दूसरे तर्क को स्थान नहीं है इसी प्रकार ‘जब उपादान में कार्य होता है तब निमित्त उपस्थित ही है ऐसा ही उपादान-निमित्त का स्वभाव है, इसलिये उसमें दूसरे तर्क को अवकाश नहीं है।’

४०—कमल में विकसित होने की योग्यता हो किन्तु यदि सूर्योदय न हो तो ?

‘कमल के खिलने और सूर्य के उदय होने में सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु सूर्य का उदय हुआ इसलिये कमल नहीं खिलता है, तो अपनी उस पर्याय की योग्यता से खिला है।’

प्रश्न—यदि सूर्योदय न हो तब तो कमल नहीं खिलेगा ?

उत्तर—‘काय हाना हो किन्तु निमित्त न हा तो’ ऐसा ही यह प्रश्न है इसका समाधान उपरोक्त युक्ति के अनुसार समझ लेना चाहिये। जब कमल में खिलने की योग्यता होती है तब सूर्य में भी अपने ही कारण से उचित हान की अवश्यभावा योग्यता होती है—ऐसा स्वभाव है। कमल में विकृति होने की योग्यता हो और सूर्य में उचित हान की योग्यता न हो ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। तथापि सूर्य के निमित्त से कमल नहीं खिलता, और कमल जिड़ना है इसलिए सूर्य उदय होता है—ऐसा भी नहीं है।

४१—जब सूर्यान्वित होता है तभी कमल खिलता है, इसका क्या कारण है ?

प्रश्न—यदि सूर्य के निमित्त से कमल न खिलता हो तो इसका क्या कारण है कि जब सूर्योदय वह वज्र होता है तब कमल भी वृद्ध वज्र खिलता है, और जब सूर्योदय सात वज्र होता है तब कमल भी सात वज्र खिलता है ?

उत्तर—उसी समय कमल में खिलने का योग्यता है, इसलिये वह तभी खिलता है। पहले उसमें अपने में ही खिलने की योग्यता नहीं थी, और उसकी योग्यता बढ़ रहने का ही था। एक समय में दो विद्वत् प्रकार की पर्यायों की योग्यता नहीं हो सकती।

४२—यह जैनदर्शन का मूल रहस्य है।

वस्तुस्वभाव स्वतंत्र निरपेक्ष है इस स्वभाव का जगत न जान ले तबतक नीचे की पर के मदरार से सच्चा उपादानना नहीं होती यह विचार का स्वामी नहीं निरुद्ध और अपनी पर्याय का स्वामी (आधार) का मान स्वभाव है उसकी दृष्टि नहीं होती। यह स्वतंत्रता जन्म-मरण का मूल रहस्य है।

४३—एक परमाणु की स्वतंत्र शक्ति।

प्रश्न—जब तब आचार्य जनों की पर्याय स्वतंत्रतया अपने से ही होता है। एक परमाणु की अपनी ही शक्ति से अखण्ड होता है उसमें निमित्त का क्या प्रयोजन है ? एक परमाणु पहला समस्त में जाता होता है और दूसरे समय में अपने ही जाता है, तथा परमाणु का एक अणु काटा और

दूसरे समय में अनन्तगुणा काला हो जाता है। इममें निमित्त किसे कहोगे ? वह तो अपनी योग्यता से परिणमित होता है।

४४—इन्द्रियों और ज्ञान का स्वतंत्र परिणामन, निमित्त-नैमित्तिक सवध का स्वरूप ।

यह बात मिथ्या है कि जड़ इन्द्रियाँ हैं इसलिये आत्मा को ज्ञान होता है। आत्मा का त्रिकाल सामान्य ज्ञानस्वभाव अपने कारण से प्रतिसमय परिणमित होता है, और जिस पर्याय में जैसी योग्यता होती है उतना ही ज्ञान का विकास होता है। पचेन्द्रिय सन्वन्धी ज्ञान का विकास है इसलिये पाँच बाह्य इन्द्रियाँ हैं—ऐसी बात नहीं है, और पाँच इन्द्रियाँ हैं इसलिये ज्ञान का विकास है—ऐसा भी नहीं है। ज्ञान की पर्याय में जितनी योग्यता थी उतना विकास हुआ है, और जिन परमाणुओं में इन्द्रियरूप होने की योग्यता थी वे स्वयं इन्द्रियरूप में परिणमित हुए हैं। तथापि दोनों का निमित्त-नैमित्तिक मेल है। जिन जीव के एकेन्द्रिय के ज्ञान का विकास होता है उसके एक ही इन्द्रिय होती है, दो वाले के दो, तीनवाले के तीन, चार वाले के चार और पचेन्द्रिय के विकास वाले के पाँचो ही इन्द्रियाँ होती हैं। वहाँ दोनों का स्वतंत्र परिणामन है, एक के कारण दूसरे से कुछ नहीं हुआ है; इसी को निमित्त-नैमित्तिक सवध कहते हैं।

४५— रागद्वेष का कारण कौन है ? सम्यक्दृष्टि के रागद्वेष क्यों होता है ?

प्रश्न—यदि कर्म आत्मा को विकार न कराते हों तो आत्मा में विकार होने का कारण कौन है ? सम्यक्दृष्टि जीवों के विकार करने की भावना नहीं होती, तथापि उनके भी विकार होता है, उसलिये कर्म विकार कराते हैं न ?

उत्तर—कर्म आत्मा को विकार कराता है यह बात मिथ्या है। आत्मा को अपनी पर्याय के दोष में ही विकार होता है कर्म विकार नहीं कराता, किन्तु आत्मा की पर्याय की वैसी योग्यता है। सम्यक्दृष्टि के रागद्वेष करने की भावना नहीं है तथापि रागद्वेष होता है, इनका कारण चारित्र्य शुद्ध की

पती पयाय की योग्यता है। रागद्वेष की भावना नहीं है तो तो धर्मागुण का पयाय है और रागद्वेष होता है तो चाग्निगुण की पर्याय है। पुण्यार्थ की भावना में रागद्वेष होता है यह करना ही निमित्तार्थीन क्या है। वास्तव में तो चाग्नि गुण की उच्च समय की योग्यता के कारण ही रागद्वेष होता है।

४^२—सम्यक्-विषय का वन ।

प्रश्न—जा विकार होता है तो चाग्निगुण ही पयाय की ही योग्यता है तब फिर जहाँ तक चाग्निगुण की पयाय न विकार होत की योग्यता हो वहाँ तक विकार होता है तब तो एसा हान पर विकार को दूर करना जीत के आधीन क्यों रहण ?

उत्तर—प्रत्येक समय की स्वयं प्र योग्यता है, एसा नियम जिस ज्ञान में दिया है ? शिक्षास्वभाव की ओर उच्च गुण सिद्ध ज्ञान में एक एक समय की पयाय की स्वतन्त्रता का नियम नहीं हो सकता। और जहाँ ज्ञान विकार स्वभाव में उच्च गुण हुआ वहाँ स्वभाव की प्रतीति के वन से पर्याय में से रागद्वेष ज्ञान की योग्यता प्रतिलिप्य घटती है। जिनका स्वभाव का नियम दिया उसकी पयाय में अधिक मनस तक रागद्वेष रह, एसी योग्यता कदापि नहीं दानी एसा ही सम्यक्-विषय का वन है ।

४^३— काय न निमित्त कुछ नहीं करता तथापि उसे 'कारण' क्यों कहा गया है ?

काय के दो कारण कहे गये हैं। जिनमें न एक उपादान-कारण है पती क्या। कारण है द्वारा निमित्त-कारण है जा दिमागोपि कारण है। उपादान और निमित्त का न कर्मों के कर्म का भाग्य ऐसा नहीं है कि दोनों एकत्रिा है हर का। हरते हैं। उन उपादान-कारण स्वयं काय करता है तब हमी पदु पर भाग्य करके उसे निमित्त-कारण कहा जाता है किन्तु वास्तव में वह कारण नहीं है।

प्रश्न—क्या दि निमित्त वास्तव में कारण नहीं है तब फिर उसे कारण क्यों कहा है ?

उत्तर—जिसे निमित्त कहा जाता है उन पदार्थ में उय प्रकार की (निमित्तरूप होने की) योग्यता है, इसलिये अन्य पदार्थों से उसे पृथक् पहिचानने के लिये उसे 'निमित्त कारण' की संज्ञा दी गई है। ज्ञान का स्वभाव स्व-पर-प्रकाशक है, उसलिये वह पर को भी जानता है और पर में जो निमित्तपन की योग्यता है उसे भी जानता है।

४८— कर्म के उदय के कारण जीव को विकार नहीं होता।

जब जीव की पर्याय में विकार होता है, तब कर्म निमित्तरूप होता है, किन्तु जीव की पर्याय और कर्म दोनों मिलकर विकार नहीं करते। कर्मोदय के कारण विकार नहीं होता, और विकार क्रिया उसलिये कर्म उदय में आये ऐसा भी नहीं है। तथा जीव विकार न करे तब कर्म खिर जाते हैं उसे निमित्त कहते हैं। किन्तु यह बात ठीक नहीं है कि जीव ने विकार नहीं किया इसलिये कर्म खिर गये हैं, उन परमाणुओं की योग्यता ही ऐसी थी।

जिस द्रव्य की जिस समय, जिस क्षेत्र में, जिस संयोग में, और जिस प्रकार, जैसी अवस्था होनी हो वैसी उस प्रकार अवश्य होती है, उसमें अन्तर हो ही नहीं सकता,—उस श्रद्धा में तो वीतरागीदृष्टि हो जाती है। स्वभाव की दृढ़ता और स्थिरता की एकता है तथा विकार से उदासीनता और पर से भिन्नता है; उसमें प्रतिसमय भेदविज्ञान का ही कार्य है।

४९—नैमित्तिक की व्याख्या।

प्रश्न—नैमित्तिक का अर्थ व्याकरण के अनुसार तो ऐसा होता है कि जो निमित्त से होता है सो नैमित्तिक है। और यहाँ तो यह कहा है कि निमित्त से नैमित्तिक में कुछ नहीं होता, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—जो निमित्त से होता है सो नैमित्तिक है, अर्थात् निमित्त जनक और नैमित्तिक जन्य है, यह परिभाषा व्यवहार से की गई है। वास्तव में निमित्त से नैमित्तिक नहीं होता, किन्तु उपादान का जो कार्य है सो नैमित्तिक है और जब नैमित्तिक कार्य होता है तब निमित्त होता ही है, इसलिये

उपचार से उस निमित्त को जाक भी कहा जाता है। और नैमित्तिक का अर्थ ऐसा भी होता है कि ' जिसमें निमित्त का सम्बन्ध हो सो नैमित्तिक है '। अर्थात् जब नैमित्तिक होता है तब निमित्त भी अवश्यमेव होता है, इतना सम्बन्ध है किन्तु यदि निमित्त-नैमित्तिक में कुछ भी करे तो उनमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध न रहे किन्तु कर्ता वरम सम्बन्ध हो जये।

५०—' निमित्त की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, किन्तु निमित्त मिलाना चाहिये ' यह मान्यता सिध्दा है।

प्रश्न—जिसे क पुत्र होना या किन्तु दम बप तक विषयभोग नहीं किया अर्थात् पुत्र होने का निमित्त नहीं मिलाया इसीविषय पुत्र नहीं हुआ अतः निमित्त मिलाना चाहिये निमित्त के द्वारा उपादान का कार्य होता है, हमें निमित्त की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। यह बात ठीक है न ?

उत्तर—यह बात सिध्दा है। मैं निमित्त मिलाऊँ तो कार्य हा यह बात ठीक नहीं है। इसमें माय निमित्ताधीन दृष्टि है। (पुत्र होने का सम्बन्ध में पहल कहा जा चुका ० वरों पर ६) निमित्त नहीं या हमारे कार्य दफ गया और निमित्त मिलाऊँ तो कार्य हो—यह बात त्रिकाल में भी सच नहीं है। किन्तु कार्य होना ही न या इसविषय तब निमित्त नहीं था और जब कार्य होता है तब निमित्त अवश्य होता है। यह अवाधित निष्पत्ति है। पर निमित्तों को आत्मा प्राप्त कर सकता है ऐसा मानना सो सिध्दाच है।

इस प्रकार आत्मा को अपने कार्य में पर की अपेक्षा नहीं है, तथापि कोई यह माने कि—' हमें निमित्त की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये ' तो यह जीव सदा निमित्त की ओर ही देखा करे अर्थात् उसकी दृष्टि सदा दूसरे पर ही रहा करे और यह पर की उपेक्षा करके स्वभार का निमल कार्य प्रगट नहीं कर सकेगा। निमित्त के मार्ग से उपादान का कार्य कभी नहीं होता, किन्तु उपादान की योग्यता से ही (उपादान के मार्ग से ही) उसका कार्य होता है।

५१—जिनशासन निमित्त की उपेक्षा करने को कहता है ।

निमित्त की उपेक्षा न करे अर्थात् परद्रव्य के साथ का सम्बन्ध न तोटे, यह बात जैनशासन में प्रिस्ट है । जैनशासन का प्रयोजन अपने के साथ सम्बन्ध कराना नहीं, किन्तु दूसरे के साथ का सम्बन्ध छुटाकर नीतरागभाव कराना है । नमस्त सद्गुणों का तात्पर्य नीतरागभाव है और वह नीतरागभाव स्वभाव के लज दृग समस्त परपदार्थों से उदासीनता होने पर ही होता है । किसी भी परलज में रहना तो ग्राह्य का प्रयोजन नहीं है, क्योंकि पर के लज से राग होता है । निमित्त भी परद्रव्य ही है, इसलिये निमित्त की अपेक्षा छोड़कर अर्थात् उसकी उपेक्षा करके अपने स्वभाव की अपेक्षा करना ही प्रयोजन है । 'निमित्त की उपेक्षा करने योग्य नहीं है, अर्थात् निमित्त का लज छोड़ने योग्य नहीं है', ऐसा अभिप्राय मिथ्यात्व है और उस मिथ्या अभिप्राय को छोड़ने के बाद भी अस्थिरता के कारण जो निमित्तपर लज जाता है सो राग का कारण है । इसलिये अपने स्वभाव के आश्रय से निमित्त इत्यादि परद्रव्यों की उपेक्षा करना सो यथार्थ है ।

५२—मुमुक्षु जीवों को यह बात समझनी चाहिये ।

उपादान-निमित्त सम्बन्धी यह बात विशेष प्रयोजनभूत है । इसे समझे बिना जीव की दो दृष्टियों में एरुता की बुद्धि कदापि दूर नहीं हो सकती, और स्वभाव की श्रद्धा नहीं हो सकती । स्वभाव की श्रद्धा हुए बिना स्वभाव में अभेदता नहीं होती, अर्थात् जीव का कल्याण नहीं होता । ऐसा ही वस्तु-स्वभाव केवलज्ञानियों ने देखा है और संत मुनियों ने कहा है । यदि जीव को कल्याण करना हो तो उसे समझना होगा ।

५३—समर्थ कारण की व्याख्या ।

प्रश्न—समर्थ कारण किसे कहते हैं ?

उत्तर—जब उपादान में कार्य होता है, तब उपादान और निमित्त दोनों एक साथ होते हैं इसलिये उन दोनों को एक ही साथ समर्थ कारण कहा जाता है, और वहाँ प्रतिपक्षी कारणों का अभाव अवश्य होता है । इससे

यह नहीं समझना चाहिये कि—उपादान का कार्य में निमित्त बृद्ध करता है। जब उपादान की योग्यता होती है तब निमित्त अशक्य होता है।

प्रश्न—समर्थ कारण त्रय है गुण है या पदार्थ ?

उत्तर—वर्तमान पदार्थ ही समर्थ कारण है। पूर्व पर्याय से वर्तमान पदार्थ का उपादान कारण कर्ना में व्यवहार है। निश्चय से तो वर्तमान पदार्थ स्वयं ही कारण-कार्य है। और इससे भी भाग बन्द कर कहें ता एक पदार्थ में कारण और कार्य एक दो भेद करना भी व्यवहार है। धाम्तर में ता प्रत्येक समय की पदार्थ अहेतु है।

५४—उपादान कारण की परिभाषा।

प्रश्न—मिमी को घे का उपादान कारण क्या जाता है सो क्या ठीक है ?

उत्तर—वास्तव में घे का उपादान कारण मिमी नहीं है किन्तु निम्न समय घना बनता है उस समय ही प्रवस्था ही स्वयं उपादान कारण है। ऐसा हान पर भी मिमी का घे का उपादान कारण बदन का अनु यह बनाना है कि—घना बनने के लिये मिमी में जैसी सामान्य योग्यता है वही योग्यता अन्य पदार्थों में नहीं है। मिमी में घना बनने की विशेष योग्यता तो जिस समय घना बनता है उपादात्म्य है, उसमें पूर्व उसमें घना बनने की विशेष योग्यता नहीं है इसलिये विशेष योग्यता ही सच्चा उपादान कारण है। इस लिये कि अत्रिष्ठ स्वरु के लिये उसे जीव में लागू करते हैं —

सम्पद्दशना प्रगट होना ही सामान्य योग्यता ता प्रत्येक जीव में है जीव के अतिरिक्त अन्य किमा में वही सामान्य योग्यता नहीं है। सम्पद्दशना की सामान्य योग्यता (शक्ति) समस्त जीवों में है, किन्तु विशेष योग्यता अन्यजीवों में ही होती है। अभायतात के तथा भायजीव जब तक मिथ्या सि रहना है तब तक उसका भी सम्पद्दशना की विशेष योग्यता नहीं होता। विशेष योग्यता ता उपादात्म्य घनय होती है जिस समय जीव

सुखार्थ से सम्यग्दशेन प्रगट करता है। सामान्य योग्यता द्रव्यरूप है और विशेष योग्यता प्रगटरूप है, सामान्य योग्यता कार्य के प्रगट होने का उपादान कारण नहीं, किन्तु विशेष योग्यता ही उपादान कारण है।

५५—चारित्र दशा और वल्ल सम्बन्धी स्पष्टीकरण।

प्रश्न—‘चारित्र दशा प्रगट होती है इसलिए वल्ल नहीं छूट जाते, किन्तु वल्ल के परमाणुओं की योग्यता से ही वे छूटते हैं’ ऐसा कहा है, किन्तु किसी जीव के चारित्र दशा प्रगट होती हो और वल्ल में छूटने की योग्यता न हो तो सवल्ल मुक्ति हो जायेगी ?

उत्तर—वहाँ सवल्ल मुक्ति होने की बात नहीं है। चारित्र दशा का स्वरूप ही ऐसा है कि वहाँ वल्ल के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता ही नहीं। इसलिये चारित्र दशा में सहज ही वल्ल त्याग होता है। वल्ल का त्याग उस परमाणु की व्यवस्था की योग्यता है, उसका कर्ता आत्मा नहीं है।

प्रश्न—यदि किसी मुनिराज के शरीर पर कोई व्यक्ति वल्ल डाल जाये तो उस समय उनके चारित्र का क्या होगा ?

उत्तर—किसी दूसरे जीव के द्वारा वल्ल डाल देने से मुनि के चारित्र में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि उस वल्ल के साथ उनके चारित्र का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है; किन्तु वहाँ तो वल्ल ज्ञान का ज्ञेय-अर्थात् ज्ञेय-हायकपन का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

५६—सम्यक् नियतिवाद क्या है ?

वस्तु की पर्याय क्रमवद्ध जिस समय जो होनी हो सो वही होती है—ऐसा सम्यक् नियतिवाद जैनदर्शन का वास्तविक स्वभाव है—यही वस्तुस्वभाव है। ‘नियत’ शब्द शास्त्रों में अनेक जगह आता है, किन्तु इस समय तो शास्त्रों को पड़े हुये लोग भी सम्यक् नियतिवाद की बात सुनकर गोते खाने लगते हैं। इसका निर्णय करना कठिन है, इसलिये कोई ‘एकान्तवाद’ कहकर उड़ाना चाहते हैं। नियत का अर्थ है निश्चित-निश्चयः वह एकान्तवाद

नहीं किन्तु वस्तु का यथार्थ स्वभाव है—यही अनेकान्तवाद है।—सम्यक् नियतवाद का निणय करते समय वाद्य में राजपाट का संयोग हो तो वह छूट ही जाना चाहिये—ऐसा नियम नहीं है, किन्तु उसमें प्रति यथार्थ उदास भाव भ्रमरय हो जाता है। वाद्य संयोग में भ्रतर पडे या न पडे किन्तु भ्रत्तर क निणय में फर हो जाता ह। भ्रशानी जीव नियतिवाद की बातें करता है, किन्तु ज्ञान और पुण्याय को स्वभावो-मुरद करक निणय नहीं करता। नियति वाद का निणय करन में जो ज्ञान और पुध्वार्थ आता है उसे यदि जीव पहचान ता स्वभावप्रित वीतरागभाव प्रगट हो और, पर से उदास हो जाये, क्यों कि सम्यक् नियतिवाद का निणय किया कि स्वयं सबका मात्र ज्ञान-भाव से हाता-दृष्टा रह गया और पर का या राग का कता नहीं हुआ।

स्वचतुष्टय में परचतुष्टय का नास्ति ही है तो फिर उसमें पर क्या करे ? जब उपादान निमित्त का यथार्थ निणय हो जाता है तब कृत्य भाव उ- जाता है और वीतरागदृष्टि पूर्वक वीतरागी स्थिरता का प्रारम्भ हो जाता है। भ्रशानीजन इस नियतिवाद को एकान्तवाद और गृहीतमिम्यात्थ कहते हैं किन्तु वानीजन कहते हैं कि यह सम्यक् नियतिवाद ही अनकतवाद है, और उसक निणय में जैनदर्शन का सार आजाता है। तथा वह कवचदान का कारण है।

५७—कुत्र अकस्मात् ई ही नहीं।

प्रश्न—सम्यक्दृष्टि क अकस्मात् भय नहीं होता इसका क्या कारण है ?

उत्तर—सम्यक्दृष्टि को यथार्थ नियतिवाद का निणय है कि जगत के समस्त पदार्थों की भवस्था उनकी योग्यतानुसार ही होती है। जो न होना हो एसा कुछ नवीन हाता ही नहीं इसलिये कुछ अकस्मात् ई ही नहीं। ऐसी नि गक भ्रदा क कारण सम्यक्दृष्टि का अकस्मात् भय नहीं हाता। वस्तु की पर्याय कमरा ही होती है, भ्रशानी को इसकी प्रतीति नहीं ह इगणिय उसे अकस्मात् ही मानुम हो ॥ है।

५८—निमित्त किसका ? और कब ?

यदि निमित्त के यथार्थ स्वरूप को समझे तो यह मान्यता दूर हो जाये कि निमित्त उपादान में कुछ करता है। क्योंकि जब कार्य हुआ तब तो पर को उसका निमित्त कहा गया है, कार्य होने से पूर्व किसी को उसका निमित्त नहीं कहा जाता,—जो कार्य हो चुका है उसमें निमित्त क्या करेगा ? और कार्य होने से पूर्व निमित्त किसका ? कुम्हार किसका निमित्त है ? यदि घडातपी कार्य हो तो कुम्हार उसका निमित्त हो, और यदि घडातपी कार्य ही न हो तो कुम्हार उसका निमित्त नहीं है। घडा बनने से पूर्व किसी को 'घडे का निमित्त' कहा ही नहीं जा सकता। और यदि जब घडा बनता है तभी कुम्हार को निमित्त कहा जाता है, तो फिर कुम्हार ने घडे में कुछ भी किया है यह बात स्वयमेव असत्य सिद्ध हो जाती है।

प्रश्न—उपादान में कार्य न हो तो परदृश्य को निमित्त नहीं कहा जाता, यह बात ऊपर कही गई है; परन्तु 'इस जीव को अनन्तवार धर्म का निमित्त मिला तथापि जीव स्वयं धर्म को नहीं ममत्त पाया' ऐसा कहा जाता है, और उसमें जीव के वर्मरूपी कार्य-नहीं हुआ तथापि परदृश्यों को धर्म में निमित्त तो कहा है ?

उत्तर—'इस जीव को अनन्तवार धर्म का निमित्त मिला किन्तु यह स्वयं धर्म को नहीं ममत्ता' ऐसा कहा जाता है। यहा यद्यपि उपादान में (जीव में) धर्मरूपी कार्य नहीं हुआ इसलिए वास्तव में उसके लिये वे पदार्थ धर्म के निमित्त नहीं है। परन्तु जो जीव धर्म प्रगट करते हैं उन जीवों को इस प्रकार के निमित्त ही होते हैं, ऐसा ज्ञान कराने के लिये कार्य न होने पर भी रथूलदृष्टि से उसे निमित्त कहा जाता है।

५९—अनुकूल निमित्त।

खौलते हुए तेल में हाथ जल गया, वहा हाथ के जलने में खौलता हुआ तेल अनुकूल निमित्त है। घडे के फूटने में टोकर लग जाना अनु-

कृत्रिम निमित्त है। अमुक पदार्थों को अनुकूल निमित्त कहा है। अतः नियम यह नहीं समझना चाहिये कि उसके अनिश्चित अन्य परिणाम प्रतिकूल हों। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के लिये अनुकूल या प्रतिकूल ही नहीं। निमित्त को अनुकूल कहने का अर्थ इतना ही है कि वह पदार्थ काय के होत समय सदभावस्वरूप होता है और अवधारणा से उसपर अनुकूलता का आरोप भावना है।

६ — दो पर्यायों की योग्यता एक साथ नहीं होती।

एक समय में दो योग्यताएँ कदापि नहीं होतीं। क्योंकि जिस समय जमीन योग्यता है वही पर्याय प्रकट होती है और उसी समय—यदि दूसरी योग्यता भी हो तो एक ही साथ वे पर्याय हो जायें। परन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता। जिस समय जो पर्याय प्रकट होनी है उस समय दूसरी पर्याय की योग्यता नहीं होती। अतारूप पर्याय की योग्यता के समय रीटीरूप पर्याय भी योग्यता नहीं होती। तब फिर इस बात को अवकाश ही कहा है कि निमित्त नहीं मिला इसलिये रोगी नहीं बनी? और जब रीटी बनती है तब उससे पूर्व की आटारूप पर्याय का अभाव करके ही बनती है, तब फिर दूसरे को उमका कारण कैसे कहा जा सकता है? हाँ जो आटारूप पर्याय का व्यय हुआ तो उसे रोगीरूप पर्याय का कारण कहा जा सकता है।

६१—'जीव पराधीन है' इसका क्या अर्थ है ?

प्रश्न—ममयनार नाटक में स्यादाद अतिकार के ६ व श्लोक में जीव को पराधीन कहा है। शिष्य पूछता है कि हे भगवन् ! जीव पराधीन है कि स्वाधीन ? तब श्रीगुरु उत्तर देते हैं कि—द्रव्यशक्ति से जीव स्वाधीन है और पर्यायशक्ति से पराधीन है—तब फिर कहाँ जीव को पराधीन क्यों कहा है ?

उत्तर—पर्यायशक्ति से जीव पराधीन है अतएव जीव स्वयं अपने स्वभाव का आश्रय छोड़कर परलक्ष द्वारा स्वयं स्वतन्त्रस्वरूप से पराधीन होता है परन्तु परलक्ष जीव पर बरजोरी करके उसे पराधीन नहीं करते।

पराधीन अर्थात् स्वयं स्वतन्त्ररूप से पर के आधीन होता है—पराधीनता मानता है, न कि पर पदार्थ उसको आधीन करते हैं।

द्वैत—द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग का क्रम।

प्रश्न—यह उपादान-निमित्त की बात तो द्रव्यानुयोग की है। परन्तु पहले तो जीव चरणानुयोग के अनुसार श्रद्धानी हो और उस चरणानुयोग के अनुसार व्रत-प्रतिमा इत्यादि को अंगीकार करे और फिर उस द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धानी होकर सम्यग्दर्शन प्रगट करे—ऐसी जैनधर्म की परिपाटी होने के सम्बन्ध में कितने ही जीव मानते हैं, क्या यह ठीक है ?

उत्तर—नहीं, जैनमत की ऐसी परिपाटी नहीं है। परन्तु जैनमत में ऐसी परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व हो और फिर व्रत हो। सम्यक्त्व स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है तथा वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने पर होता है। इसलिये पहले द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो और फिर चरणानुयोग के अनुसार व्रतादिक करके व्रती होता है। इस प्रकार मुख्यतया तो निम्नदशा में ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है, तथा गौणरूप से जिसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती न-मालूम हो उसे पहले किसी व्रतादि का उपदेश दिया जाता है; इसलिये समस्त जीवों को मुख्यतया द्रव्यानुयोग के अनुसार आध्यात्मिक उपदेश का अभ्यास करना चाहिये। यह जानकर निम्नदशा वालों को भी द्रव्यानुयोग के अभ्यास से परान्मुख होना योग्य नहीं है।



क्रिया

क्रिया की सामान्य परिभाषा ।

प्रायः सा परिभाषा लेना या क्रिया = प्रत्येक द्रव्य की प्रायः समय-समय पर उदात्त हो रही है । प्रत्येक द्रव्य ही प्रायः ही उदात्त क्रिया है । प्रत्येक द्रव्य की प्रायः अणु में ही लेना = एक द्रव्य की प्रायः दूसरे द्रव्य में नहीं होता, इसलिये एक द्रव्य का क्रिया भी दूसरे द्रव्य में नहीं होता तथा एक द्रव्य की क्रिया भी दूसरे द्रव्य नहीं करता ।

क्रिया के प्रकार ।

इस प्रकार मज्जा और चेतन दो प्रकार के द्रव्य हैं । प्रायः की पर्याय ही क्रिया है इसलिये क्रिया भी मज्जा और चेतन दो प्रकार का है । मज्जा प्रायः की अस्तित्व मज्जा की क्रिया है और चेतन द्रव्य की (जीव की) अस्तित्व से चेतन की क्रिया है अर्थात् जीव की क्रिया है ।

जीव की क्रिया दो प्रकार की है—साक्षात्काररूप विभक्ति क्रिया और साक्षात्काररूप संप्रत्यक्ष जन-साक्षात्कार अर्थात् क्रिया । विभक्ति क्रिया अर्थ का कारण है इसलिये उम अर्थ की क्रिया भी कहते हैं और अर्थकारी क्रिया मोक्ष का कारण है इसलिये उसे मोक्ष का क्रिया कहते हैं ।

इस अर्थ में कुल तीन प्रकार की क्रियाएँ हैं—(१) मज्जा की क्रिया (२) जीव की अर्थकारी क्रिया (३) जीव की अर्थकारी क्रिया ।

जड़ की क्रिया ।

शरीर जड़ है, इसलिये उनकी प्रत्येक क्रिया जड़ की क्रिया है । शरीर का हिलना-डुलना या स्थिर रहना जड़ की क्रिया है, उसके कर्ता जड़ परमाणु हैं, आत्मा उसका कर्ता नहीं है, जड़ की क्रिया के साथ बन्ध अथवा मोच का सम्बन्ध नहीं है । शरीर की हलन-चलनरूप अवस्था में अथवा स्थिरता-रूप अवस्था में बन्ध या मोच की क्रिया नहीं है, अर्थात् शरीर की किसी भी क्रिया से आत्मा को बन्ध या मोच, लाभ या हानि अथवा सुख-दुःख नहीं होता, क्योंकि शरीर की क्रिया जड़ की क्रिया है ।

पहले शरीर की अवस्था घर में रहने की होती है, और उसमें हलन-चलन होता है, फिर शरीर की अवस्था बदलकर वहाँ से धर्मस्थान में जाकर स्थिर होता है । इस परिवर्तन में अज्ञानी जीव धर्म मानता है । परन्तु जड़ की क्रिया बदल जाने से आत्मा के धर्म, पुण्य या पाप नहीं होता । शरीर की भाँति ही, रुपया, पैसा, दत्त, आहारादि का मयोग-वियोग भी जड़ की क्रिया है उससे धर्म अथवा पुण्य-पाप नहीं होता । इनमें से किसी भी क्रिया का कर्ता आत्मा नहीं है ।

विकारी क्रिया ।

जीव की पर्याय में जो रागद्वेष-अज्ञानरूप भाव होते हैं वह जीव की विकारी क्रिया है, इस क्रिया को बध की क्रिया कहते हैं । शरीरादि जड़ की क्रिया से विकारी क्रिया नहीं होती, और जीव की विकारी क्रिया से शरीरादि जड़ की क्रिया नहीं होती । रागद्वेष-अज्ञानरूप भाव आत्मा की पर्याय में होते हैं, इसलिये आत्मा की पर्याय में ही वह विकारी क्रिया करने की योग्यता है । शरीर की क्रिया से पुण्य-पाप नहीं होते । पुण्य-पापरूप विकारी क्रिया बन्धन की क्रिया है, उस क्रिया के द्वारा ससार मिलता है, मोक्ष दूर होता है, और आत्मा के गुणों की पर्याय नष्ट होती है । इस क्रिया से धर्म नहीं होता ।

प्रश्न—जड़ की क्रिया करने पर ही तो धर्म होता है ? जैसे पहले शरीर को घर से धर्मस्थान तक ल जाय धर्म मुने, और फिर यग्य समझ से धर्म होता है इस प्रकार जड़ की क्रिया करने की बात हुई या नहीं ?

उत्तर—जड़ की क्रिया द्वारा धर्म नहीं होता । जड़ की क्रिया आत्मा करता ही नहीं इसलिये उस क्रिया के साथ आत्मा का सम्बन्ध नहीं है । उपरोक्त दृष्टान्त में शरीर की क्रिया बदलने से धर्म नहीं हुआ किन्तु तत्व समझने को जाना है । ऐसा जो शुभभाव हुआ और घर से धर्मस्थान पर गया, वहाँ निम्नप्रकार की क्रिया हुई—

(१) शुभभाव हुआ सा पुण्य है वह विकारी क्रिया है । (२) शरीर का क्षत्रपरिवर्तन हुआ सा जड़ की क्रिया है । (३) आत्मप्रदर्शों का क्षत्रपरिवर्तन हुआ सो आत्मा की विकारी क्रिया है । (४) सत् मुने के प्रति लक्ष हुआ सा वह शुभभावरूप विकारी क्रिया है । यह घर श्रियाय हुई तबतक धर्म नहीं हुआ । धर्म मुने के लक्ष से भी स्वरूपलक्ष की आर उन्मुख हो और अपने शुद्ध आत्मस्वभाव का नहिमा पूर्वक निर्णय कर तो वह अविकारी क्रिया है और वही धर्म है । जड़ की क्रिया आत्मप्रदर्शों की क्षत्रपरिवर्तनरूप क्रिया और शुभरागरूप विकारी क्रिया से धर्म क्रिया भिन्न है ।

इसी प्रकार किसी चीज के खयाल-पसा कमान बन्धादि की अशुभ भावना हुई और शरीर की क्रिया पापकार्य में हुई तो वहाँ भी शरीर की क्रिया जड़ की स्वतंत्र क्रिया है उसमें जीव को लाभ-हानि नहीं होती । और जो अशुभभाव हुए, वह जीव की विकारी क्रिया है उससे जीव को हानि होता है । अशुभ भावों के कारण भा शरीर की क्रिया नहीं होती ।

अशुभ परिणाम से पाप, और शुभ परिणाम से पुण्य का समावेश विकारी क्रिया में होता है और दोनों समय होने वाली शरीर की क्रिया वह स्वतंत्र जड़ की क्रिया है । मेरे परिणामों के कारण जड़ की क्रिया हुई है ऐसा मान तो भ्रम है, और पुण्य परिणामों के कारण धर्म की क्रिया हुई है, ऐसा माने तो भी भ्रम है ।

धर्मस्थान में गरीर दो घड़ी स्थिर होकर बैठा सो वह जड की क्रिया है। यदि उस समय शुभ परिणाम हो तो वह पुण्य है, और यदि धर्मस्थान में बैठकर भी घर इत्यादि के अशुभ विचार करता हो, तो पाप है। पुण्य और पाप दोनों विकार हैं, उनसे धर्म नहीं होता, यदि ऐसी आत्मप्रतीति उस समय विद्यमान हो तो वह उतने अंश में अविकारी धर्मक्रिया है, वह मोक्ष की उत्पादक क्रिया है। और पुण्य-पाप दोनों बन्ध की क्रिया हैं, जो कि संसार की उत्पादक क्रिया हैं। किसी जीव ने अशुभ परिणाम छोड़ दिये और जिनेन्द्रदेव, निर्ग्रन्थगुरु एव सत्शास्त्र के लक्ष से शुभराग किया तथा उसमें धर्म माना तो वह जीव एतन्न बन्धन की क्रिया ही कर रहा है, उसके अधर्म क्रिया ही विद्यमान है, - फिर भले ही वह चल रहा हो स्थिर हो, त्यागी हो या गृहस्थ हो, अथवा खा रहा हो या उपवासी हो।

अविकारी क्रिया ।

अविकारी क्रिया का अर्थ है धर्म की क्रिया अथवा मुक्ति की क्रिया। लोग कहते हैं कि क्रिया से धर्म होता है, किन्तु वह किसकी और कैसी क्रिया है? वह जड की क्रिया है, या चेतन की विकारी क्रिया है या अविकारी? जिसे जड, विकारी और अविकारी क्रिया के स्वरूप की ही खबर नहीं है, वह धर्म की क्रिया कहा से करेगा?

मुक्ति की क्रिया मे पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, और पर की ओर के भुक्त्वा से जो भाव होता है, उसके साथ भी सम्बन्ध नहीं है। मुक्ति की क्रिया मे परपदार्थ पर या विकार पर दृष्टि नहीं होती, किन्तु पर से और विकार से भिन्न अपने असंयोगी, अविकारी, त्रिकाल स्वभाव पर दृष्टि होती है। विकारी क्रिया भी आत्मा की वर्तमान दशा है, और अविकारी क्रिया भी आत्मा की वर्तमान दशा है। आत्मा की जो वर्तमान दशा स्वभाव के साथ का एकत्व छोड़कर परलक्ष में और पुण्य-पाप में अटक जाती है, वही विकारी क्रिया है, संसार है, मोक्ष की घातक है, सुख को दूर करने वाली और दुःख को देने वाली है। तथा आत्मा की जो वर्तमान दशा परलक्ष

मे इच्छर स्वतन्त्र में अपने त्रिधात्मिक स्वभाब की: धृदा-ज्ञान और स्थिरता में निही हुई है यही अविहारी क्रिया है धर्म है मोक्ष की उत्पादक है, ससार की घातक है मुख दान वाली और दुख दूर करन वाली है ।

विहारी क्रिया या अविहारी क्रिया दोनों एक समय मात्र की जीव की अवस्था है, किन्तु उन दोनों के लक्ष में अन्तर है । अविहारी क्रिया का लक्ष त्रिधाली शुद्ध स्वस्वभाव है, और विहारी क्रिया का लक्ष परदव्य तथा पुण्य-पाप है । जन्म का काय करन की बात दो में से एक भी क्रिया में नहीं है जन्म का क्रिया इन दोनों से अलग स्वतन्त्र है उससे न तो बन्ना होता है, और न मुक्ति ?

मोक्ष किसक लक्ष से होता है ? तीन प्रकार की क्रियाओं में से किस क्रिया से मोक्ष होता है ? नष्ट क लक्ष से मोक्ष होता है या पुण्य-पाप के लक्ष से ? आत्मा में परद्वय का त्याग या प्रण नहीं होता इसलिये उस क लक्ष से मोक्ष नहीं होता । जो पुण्य-पाप होते हैं ता भी परलक्ष से होता है इमलिय विहार हैं उनक लक्ष से मोक्ष नहीं होता । अर्थात् जन्म का क्रिया से और विहारी क्रिया से मोक्ष नहीं होता । जन्म की क्रिया का बाह्य संयोग हान पर भी और पर्याय में लक्षिक रागद्वेष होन पर भा में यस जन्म से भिन्न है और मेरे शुद्ध ज्ञानभाव में रागद्वेष नहीं है ऐसा भद-ज्ञान का तो प्रारम्भ की धर्म की क्रिया है परन्तु शुद्ध ज्ञाताभाव में स्थिरता करन पर रागद्वेष दूर होत जात है । इस प्रकार धर्म की क्रिया क बत से विहारी का क्रिया का नाश होता है ।

(१) पद में अन्न जाय या न जाय यह जन्म का क्रिया है उसमें न तो पुण्य-पाप है और न धर्म ही । () पद में अन्न नहीं गया इसलिये उस समय (उपनाम में) जीव का उपनाम मान्य हो कि उपनाम तो भक्त क्रिया किन्तु कन जित्वा मात्र मान्य नहीं आया ता उसक यह अनुभव परिपान है । जिसे पाप बन्ध होता है । (२) यदि उस समय भद रूपाय रख ता गुण परिष्कृत हान है त्रिभक्त पुण्य-बन्ध होता है । (३) उस समय

आहार, शरीर और पुण्य-पाप का लक्ष द्योडकर अपने त्रैकालिक आत्मस्वभाव को पहिचानकर उसमें स्थिर हुमा-अनुभव में एकाग्र हुआ सो धर्म है ।

इनमें से पहली जड़ की क्रिया है, दूसरी और तीसरी विकार की क्रिया है, और चौथी धर्म की क्रिया अथवा अविकारी क्रिया है ।

शरीर स्थिर रहे सो जड़ की क्रिया है और उम जड़ की क्रिया से जो आत्मा का अनुभव करता है, वह अज्ञानी है । जड़-शरीर की क्रिया स्थिर रहने के रूप में हो गई, परन्तु उस समय आत्मा की क्रिया किस प्रकार की हो रही है, इसे जानें बिना धर्म का साप कहाँ से निकालेंगा ? धर्म की क्रिया शरीर में होती है या आत्मा में ? जिसकी भूमिका में धर्म की क्रिया होती है, ऐसे आत्मस्वभाव की जिसे खबर नहीं है, वह धर्म की क्रिया कहाँ करेगा ? इसलिये सर्वप्रथम आत्मस्वरूप को समझना चाहिये । यही प्रारम्भिक धर्म की क्रिया है, इसके अतिरिक्त धर्म की कोई दूसरी क्रिया नहीं है ।



व्यवहारनय के पक्ष के सूक्ष्म आशय का स्वरूप और उसे दूर करने का उपाय

मनत प्राणियों को मनन्तकाल से अपन निश्चयस्वभाव की महिमा ज्ञात न होने से राग और विकल्प का सुदमपन रह जाता है, उस व्यवहार के सुदमपन का स्वरूप यहाँ बताया जाता है ।

जीव को ज्ञान में परवस्तु विकल्प तथा आत्मा का स्वभाव भी ज्ञात होता है । उसके ध्यान में यह आता है कि आत्मवस्तु, राग भयवा परवस्तु जैसी नहीं है यह ध्यान में आने पर भी यदि राग में आत्मा का वीर्य रह जाय तो व्यवहार का पण रह जाता है । आत्मा के वीर्य को पर की ओर के भुक्त्वाव से प्रयत्न करके शुभराग का जा उत्पन्न होता है उस पर भी लक्ष न देखर स्वभाव के ज्ञान से वीर्य को उस शुभभाव में न लगाकर यदि शुभ से भी भिन्न आत्मस्वभाव की ओर प्रवृत्त कर ता ममत्तना आदि कि जीव ने निश्चय क आश्रय से व्यवहार का निषेध किया है

आत्मा वर्तमान में ही ज्ञानात्ति मनत स्वभाव-गुण का पिष्ट है उसकी भरस्था में जा वर्तमान अगुण अवस्था होती है उसे छोड़ने का जीव का मन होता है क्योंकि उसमें अगुण स गुण में वीर्य को युक्त करना वर्तमान ज्ञान क निष ही वीर्य का कार्य है । नमदिगम्बर जैन धारु दोहर पंच-

महाव्रत का शुभराग तथा देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा करके उनको कही हुई बात ध्यान में लाने पर भी सम्यग्दर्शन का अभाव होने से जीव के सूक्ष्म-रूप में व्यवहार की पकड़ रह जाती है ।

ज्ञान में शुभ और अशुभ दोनों का ध्यान करके जीव वीर्य को अशुभ में से शुभ में बदल देता है, परन्तु वह वर्तमान मात्र के शुभराग में वीर्य का जो भार है उसे लेकर यदि स्वभाव की ओर टाल दे तो व्यवहार का पत्र छूट जाय । आत्मा के स्वभाव में विकार नहीं है, विकार जगित्त है और पर पदार्थ भिन्न हैं—यह ध्यान में लिया अर्थात् १—गरीर इत्यादि परवस्तु में नहीं हूँ, यह ज्ञान में धारण कर लिया । २—कर्म जड़ है वह आत्मा से भिन्न है यह ज्ञान से समझा और जो ३—अशुभ भाव होता है उसे अवस्था के लक्ष में रह रहकर बदला—अवस्थादृष्टि में ही रह रहकर अवस्था में अशुभ को बदल कर शुभ किया । शुभभाव, अशुभभाव और शुभाशुभ रहित आत्मस्वभाव को ध्यान में लिया तथा जो अशुभ होता है उसे आत्मवीर्य के द्वारा छोड़कर शुभ किया किन्तु स्वभाव की ओर पुनर्प्राप्त वा बल अटक रहा, इसलिये निश्चय का आश्रय नहीं हुआ और न व्यवहार का पत्र ही गया ।

जीव को ज्ञान में पर वस्तुओं, शुभ तथा अशुभ किसे कहा जाय यह, और शुभाशुभ से रहित स्वभाव ध्यान में आने पर भी उस शुभ की ओर से वीर्य का बल छूटकर स्वभाव के बल की ओर न जाय तो उस जीव के निश्चय का विषय जो स्वभाव है वह रुचिकर नहीं हुआ अर्थात् उसका वीर्य स्वभाव की ओर नहीं जाता, प्रत्युत व्यवहार में ही अटका रहता है ।

अशुभ से शुभभाव करने में वीर्य वर्तमान मात्र के लिए ही है और शुभाशुभ रहित स्वभाव की रुचि के वीर्य का त्रैकालिक बल है । स्वभाव की रुचि का त्रैकालिक बल में शुभ के मुक्ताव में से वीर्य प्रयत्न होकर जब स्वभाव की महिमा में उमना बल आता है तब त्रैकालिक की दृष्टि में गहज ही वर्तमान मात्र के लिए, व्यवहार का निषेध हो जाता है, उसके ऐसा

विरूप नहीं होता कि निषेध करें। इस प्रकार निश्चयनय, व्यवहारनय का निषेध करता है।

जानने में 'राग मेरा स्वरूप नहीं है,' इस प्रकार व्यवहार का जो निषेध हमें भी राग है। मैं जीव हूँ—मिथर मेरा स्वरूप नहीं है इस प्रकार नय तत्त्वादिक के विचार के वर्तमान मात्र के भावों पर जा वीर्य का बल प्राप्त करना है परन्तु स्वभाव से परामुख मुखाव से छूटकर अन्तर स्वभाव में भुक्न के लिय वीर्य की उन्मुखता काम न करे ता कहना होगा कि वह व्यवहार की इच्छा में जमा हुआ है किन्तु उसका मुखाव निश्चय स्वभाव की शर नहीं है। जिस वीर्य का भुक्न निश्चय स्वभाव की शर बलता है उस वीर्य में वर्तमान का भुक्न (व्यवहार का पक्ष) अवश्य छूट जाता है इसलिये अनन्त तीर्षकों ने निश्चय के द्वारा व्यवहार का निषेध किया है।

अनय और अनय सिव्याहृष्टि जीव यदि बहुत करे तो भ्रमों को दान कर पराग्य तक आता है इस पराग्य का शुभभाव भी वर्तमान मात्र के लिय है उदा वर्तमान पर अन का लज स्थिर हुआ है यहाँ स छाडकर प्रिकानी स्वभाव पर ज्ञान का लज स्थिर कर रखें इस प्रकार स्वभाव की ओर वीर्य का बल जबनक न हो तबनक निश्चय का आश्रय नहीं होता और निश्चय के आश्रय के बिना व्यवहार का पक्ष नहीं छूटना।

व्यवहार का आश्रय तो वह अनय जग भी करता है जिसकी कभी मुक्ति नहीं होगी। इसलिये निश्चय के आश्रय से ही मुक्ति होती है। अतः निश्चयनय से व्यवहारनय निषेध करने योग्य ही है।

सच्चे एवं गुरु शास्त्र क्या कहते हैं ? इसका विचार हमें आता है तथा पक्ष महाजतादि के विरूपस्वरूप का व्यवहार उठता है उसे भी ज्ञान आनता है—किन्तु उस रागस्वरूप व्यवहार से निश्चय स्वभाव की अधिष्ठा (शुद्धत्व) जबनक दृष्टि में नहीं उठती तबनक निश्चय स्वभाव में वीर्य का बल स्थिर नहीं होता और निश्चय स्वभाव के आश्रय के बिना निश्चय

सम्यक्त्व नहीं होता। निश्चय सम्यक्त्व के बिना व्यवहार का निषेध नहीं होता। इस प्रकार जीव के व्यवहार का सूक्ष्म पक्ष रह जाता है।

‘राग वर्तमानमात्र के लिए विकार है, प्रत्येक अवस्था में वह राग बदलता जाता है, और उस विकार के पीछे निर्विकार स्वभाव को धारण करने वाला द्रव्य ध्रुव है,’ इस प्रकार विकल्प के द्वारा जीव के ध्यान में आता है, किन्तु जबतक त्रैकालिक स्वभाव में वीर्य को लगाकर अरागी निश्चय स्वभाव का बल नहीं आता तबतक व्यवहार का निषेध नहीं होता, और व्यवहार के निषेध के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता।

अज्ञानी के व्यवहारनय के पक्ष का सूक्ष्म अभिप्राय रह जाता है, वह केवलजिगम्य है, वृद्धस्थ के वह कदाचित् दृष्टिगोचर नहीं होता। वह अभिप्राय कैसे रह जाता है, इस सम्बन्ध में यहाँ कथन चल रहा है।

आत्मा सर्वथा ज्ञानस्वभावी, अकेला, प्रायक, शान्तस्वरूपी है;—ऐसे स्वभाव के जानते हुए भी, और राग का ध्यान आते हुए भी स्वभाव की ओर वीर्य ढलकर अन्तरंग में वह बात नहीं बैठती, इसलिये वीर्य बाहर अटक जाता है। यदि स्वभाव में यह बात जम जाय कि बहिर्मुख भाव के बराबर में नहीं हूँ, तो उसका वीर्य अधिक होकर निश्चय में ढल जाता है, और निश्चय में वीर्य ढल गया कि वहीं व्यवहार का निषेध हो जाता है।

अभव्य जीवों को तथा मिथ्यादृष्टि भव्यजीवों को स्वभाव का ध्यान भाने पर भी स्वभाव की महिमा नहीं आती। ध्यान में आता है इसका अर्थ यहाँ पर सम्यक्ज्ञान में भाने की बात नहीं है, किन्तु ज्ञानावरण के क्षयोपगम की प्रगटता में इस बात का ध्यान आता है। ग्यारह अंग के ज्ञान में सब बात आ जाती है कि—आत्मा का स्वभाव त्रिकाल है—राग क्षणिक है, किन्तु रुचि का वीर्य शुभ की ओर से नहीं हटता। बहुत गभीर में स्वभाव की माहात्म्यदशा में वीर्य को लगाना चाहिये। वह यह स्वयं नहीं करता इसलिए व्यवहार का पक्ष रह जाता है।

यहाँ पर अभव्य की यात तो मात्र दृष्टान्त के रूप में कही है, किन्तु सभी मिथ्याष्टि जीव कहीं न कहीं व्यवहार के पक्ष में झटक रहे हैं, इसी लिए उन्हें निरवयव सम्यग्दर्शन नहीं होता। जैन साधु होकर और सच्चे ऋषि गान्धारी गुरु को मानकर वे क्या कहते हैं यह ध्यान में भी लिया, किन्तु वर्तमान भाव के मुद्दा से (समस्या कलत्र में रुककर) वीथ बदलता है उस वीथ को वर्तमान से दृष्टात्तर त्रिकाली स्वभाव की ओर नहीं लगाता। वर्तमान पयाय को वर्तमान से दृष्टात्तर त्रिकालिकता की ओर लगाये बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता इसलिये सबल भगवान न सदा निश्चय के आश्रय से व्यवहार का निपथ किया है।

जीव को सत्य ब्रह्मचय, अहिंसा इत्यादि शुभरागरूप व्यवहार का पक्ष है—वर्तमान मात्र के भाव का आग्रह है उसनी जगह यदि त्रिकालिकता की ओर वीथ का बल लगाया जाय तो निश्चय का आश्रय प्राप्त हो, किन्तु त्रिकालिकता की ओर वीथ का बल नहीं है अर्थात् वीथ पर में (पराश्रित व्यवहार में) ही झटक जाता है।

बाह्य के त्याग अथवा प्रवृत्ति पर सम्यग्दर्शन अवलम्बित नहीं है किन्तु वह निश्चय स्वभाव पर आश्रित है। यदि जीव स्वभाव की ओर की रुचि में वीथ का बल नहीं लगाता तो उसका व्यवहार का पक्ष नहीं छूटता और सम्यग्दर्शन नहीं होता, सम्यग्दर्शन अन्तरंग स्वभाव की वस्तु है।

त्रिकालिक और वर्तमान इन दोनों पहलुओं का ध्यान मान पर भी त्रिकालिक स्वभाव की रुचि की ओर नहीं मुक्तता किन्तु वर्तमान पयाय की रुचि की ओर उन्मुख होता है। 'यह स्वभाव है—यह स्वभाव है' इस प्रकार यदि स्वभाव रुचि की ओर मुक्त ता वर्तमान पर जो बल है वह तत्काल छूट आय, किन्तु त्रिकाली स्वभाव को 'यह है' इस प्रकार रुचि में लन के बदले वर्तमान शुभराग में 'यह राग है' इस प्रकार वर्तमान पर उसका भार रहता है इसलिये त्रिकाल मात्र इन्द्र स्वभाव में वीथ का मुद्दा

अंतरंग में परिणमित नहीं होता, अर्थात् निश्चय का आश्रय नहीं होता और व्यवहार का पक्ष नहीं छूटता । व्यवहार का पक्ष मिथ्यात्व है ।

आत्मा का जो वीर्य करता है वह तो अवरथा रूप (वर्तमान) ही है, परन्तु उस वर्तमान वीर्य को वर्तमान के लक्ष पर (अवस्था-दृष्टि में) स्थिर करे और त्रैकालिक अंतरंग स्वभाव की ओर वीर्य को प्रेरित न करे तो विकल्प नहीं टलता और सम्यग्दर्शन नहीं होता ।

प्रत्येक जीव के वर्तमान अवस्था में वीर्य का कार्य तो होता ही रहता है, किन्तु उस वीर्य को कहा स्थापित करना चाहिये यह भान न होने से जीव के व्यवहार का पक्ष नहीं छूटता । “ मैं एक ज्ञायकभाव हूँ, मैं वर्तमान अवस्था के बराबर नहीं हूँ, किन्तु अधिक त्रिकाल शक्ति का पिंड हूँ ” इस प्रकार अपने निश्चय स्वभाव की रुचि के बल में वीर्य को स्थापित करना चाहिए—एकाग्र करना चाहिए । यदि निश्चय स्वभाव की ओर के बल में और रुचि में वीर्य को न जोड़े तो वह वीर्य व्यवहार के पक्ष में जुड़ जाता है, और उसके व्यवहार का सूक्ष्म पक्ष नहीं छूटता ।

जब व्यवहार के पक्ष से छूटकर वीर्य में जायक स्वभाव का बल स्थापित किया जाता है तब भी व्यवहार का ज्ञान तो (गौणरूप में) रहता ही है, कहीं ज्ञान छूट नहीं जाता, क्योंकि वह तो सम्यक्ज्ञान का अंग है । व्यवहार का ज्ञान छूटकर निश्चय की दृष्टि नहीं होती । सम्यग्दर्शन के होने पर व्यवहार का ज्ञान तो रहता है, किन्तु उसपर से दृष्टि उठकर स्वभाव की ओर एकाग्र हो जाती है । इस प्रकार निश्चय के आश्रय के समय व्यवहार का पक्ष छूट जाने पर भी ज्ञान तो सम्यक्ज्ञानरूप अनेकान्त ही रहता है, किन्तु जब ज्ञान सर्वथा व्यवहार की ओर-ढलता है तब निश्चय का आश्रय किंचित मात्र भी न होने से वह व्यवहार का पक्षबाला ज्ञान मिथ्यारूप एकान्त है । सम्यग्दर्शन होने के बाद निश्चय का आश्रय होने पर भी जबतक अर्पण भूमिका है तबतक व्यवहार रहता है,—किन्तु निश्चयनयाश्रित जीव को उस ओर आसक्ति नहीं होती, उसके वीर्य का वल व्यवहार की ओर नहीं ढलता ।

सच्च दध, शास्त्र, गुरु की पहचान, नवतत्व का ज्ञान, ब्रह्मचर्य का पालन तथा पूजा, व्रत तप और भक्ति-इत्यादि के करण पर भी जीव को मिथ्यात्व क्यों रू जाता है ? क्योंकि जीव यह वर्तमान परिणाम ही में है और उसीसे मुक्त लाभ है' इस प्रकार वर्तमान पर ही लक्ष को स्थिर करके उसमें अटक रहा है और त्रैकालिक एकरूप निरपन्न स्वभाव की ओर नहीं गया इच्छीनिष्ठ मिथ्यात्व रह गया है। यदि जीव वर्तमान के ऊपर का लक्ष को छोड़कर त्रैकालिक स्वभाव का लक्ष में ले तो सम्भ्रमण्टि होता है क्योंकि सम्भ्रमण्टन का आधार (माश्रयभूतवस्तु) त्रैकालिक स्वभाव है वर्तमान प्रवृत्त पयाय क मार पर सम्भ्रमण्टन प्रगट नहीं होता ।

निरचय-अवड अभेद स्वभाव की ओर जात हुय बीच म जो विकल्पा दित्त व्यवहार आये उसके लिये खद होना चाहिये, ऐसा न करके जो उसके प्रति उत्साहित होता है उसे स्वभाव क प्रति आदर नहीं रहता। अयात् वह मिथ्यात्वी ही रहता है। निरचय स्वभाव की ओर के वीर्य का उल्लास होने क बदले व्यय र में जिसका वीर्य उल्लभित होता है उसके स्वभाव की ओर का उल्लसित भाव पराजलनित पडा रहता है। इमजिय जीव क व्यवहार का पक्ष दूर नहीं होता।

व्यय र की रुचिराला जीव भगवान की दिव्यध्वनि का उपवरा सुनकर उसमें से भी व्यवहार की ही रुचि को पुन करता है। ' भगवान की वाणी में निश्चय स्वभाव का और व्यवहार का - दोनों का मेल कर दिनाया है, अयात् दोनों नयो न समान स्तर पर रगा है ' यों मानकर वह अज्ञाना जीव अपन व्यवहार क दृठ को न करता है परन्तु भगवान की वाणी ता निश्चय का आश्रय करके व्यवहार का निषेध करन को कहता है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार दोनों क बीच परस्पर विरोध पाया जाना है, इसे वह 'अज्ञानी नहीं जानता और न उधर रुचि न करता है तथा व्यवहार का निषेध करके निरचय में वीर्य को उत्तनमित भी नहीं करता। निश्चय क आश्रय का उल्लास न हान स बीच में व्यवहार घाता है, उसका खद न करके कद

दिया करता है कि 'व्यवहार तो बीच में आयेगा ही?' और इस प्रकार मिथ्या-दृष्टि के व्यवहार की गहरी रुचम मिटास विद्यमान रहती है, इसलिये वह अपने स्वभाव में उल्लसित होकर सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।

प्रश्न—क्या ऐसे एकांत निश्चय नहीं हो जाता ?

उत्तर—नहीं, इसी में सच्चा अनेकांत है। निश्चय स्वभाव और राग दोनों को जानकर जब वीर्य के बल को निश्चय स्वभाव में लाना होता है तब ज्ञान में गौणरूप से यह ध्यान तो होता ही है कि अवस्था में विकार होता है। स्वभाव की ओर लाने वाला जीव पर्याय की अपेक्षा से अपने को केवलज्ञानी नहीं मानता। इस प्रकार ज्ञान में निश्चय और व्यवहार दोनों को जानकर निश्चय का आश्रय और व्यवहार का निषेध किया है, और यही अनेकांत है। दोनों पक्षों को जानकर एक में आसूँ और दूसरे में अनासूँ हुआ—अर्थात् निश्चय को ग्रहण किया और व्यवहार को छोड़ा, वस यही अनेकांत है। किंतु यदि निश्चय और व्यवहार दोनों को आश्रय योग्य माने तो वह एकांत है। (दो नय परस्पर विरोधरूप हैं, इसलिये दोनों का आश्रय नहीं हो सकता। जीव जब निश्चय का आश्रय करता है तब उसका व्यवहार का आश्रय छूट जाता है और जब व्यवहार के आश्रय में अटक जाता है तब उसके निश्चय का आश्रय नहीं होता। ऐसा होने से जो दोनों नयों को आश्रय योग्य मानते हैं वे दोनों नयों को एकमेक मानने के कारण एकांतवादी हैं।) राग सम्यग्दर्शन में सहायता न करे किंतु 'राग मुझे सहायता नहीं करता' ऐसा विकल्प भी सहायता न करे तब इस प्रकार राग से मुक्त होकर जब जीव स्वभाव की ओर डलता है तब मुख्य स्वभाव की (निश्चय की) दृष्टि होती है और अवस्था गौण हो जाती है। इस प्रकार निश्चय को मुख्य और व्यवहार को गौण करने से ही वह नय कहलाता है।

जिसे व्यवहार का पक्ष है वह जीव एकांत व्यवहार की ओर डल जाता है, इसलिये वह निश्चय स्वभाव का तिरस्कार करता है। मात्र वर्तमान की ओर की उन्मुखता में इतना अधिक बल नहीं है कि वह विकल्प को तोड़कर

स्वभाव का दान कराए । यदि दृष्टि में मात्र निश्चय स्वभाव पर भार न दे तो व्यवहार का गौण करके स्वभाव की ओर नहीं मुक्त सकता और सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता । यदि वर्तमान में हानवाले विकारभाव की ओर कबल को चीण करके स्वभाव की ओर बल का लगाय तो मत्स्या म स्वभावरूप कार्य हो सकता है । ज्ञान और वीर्य की दृष्टता स्वभाव की ओर लक्ष्य तो वह निश्चय की सुगमता हुई और रागादि विकल्प का जानकर भी उस ओर न लक्ष्य—उसे सुगम न किया तो वही व्यवहारनय का निषेध है । वही भी व्यवहार का ज्ञान है और उस ज्ञान में व्यवहार गौणत्व से विद्यमान है ।

ज्ञान और वीर्य के बल से स्वभाव की ओर जा सुरक्षिता होती है उस सुगमता का बल धीनरागता और केवलज्ञान होने तक बना रहता है बीचमें मत्स्या ही व्यवहार भाये किन्तु कभी भी उसकी सुगमता नहीं होती । छठे गुणस्थान तक राग रहेगा तथापि दृष्टि में कभी भी राग की सुगमता नहीं होगी । त्रैकालिक स्वभाव ही सुगम है मत्स्या दृष्टि क बलसे वह निश्चय स्वभाव की ओर दृष्टते दृष्टते और स्वरूप व्यवहार को तोड़ते तोड़ते संपूर्ण नीतरागता और केवलज्ञान ही जायगा । केवलज्ञान होने के बाद संपूर्ण नय पक्ष का ज्ञान होने से वही न कोई सुगम रहता है और न गौण और न कोई विकल्प ही रहता है ।

यह बतलाता है कि नव तत्त्वों की श्रद्धा और ग्यारह भ्रम का ज्ञान होने पर भी जीव का सम्यग्दर्शन कैसे हो जाता है । त्रैकालिक और वर्तमान इन दोनों को प्रायोपशमिक ज्ञान से जाना तो मत्स्या किन्तु वर्तमान की दृष्टता बाधा त्रैकालिक स्वभाव की ओर मुक्त नहीं सकता और त्रैकालिक स्वभाव की ओर उन्मुक्त होना प्रथम दानों का विचार करके स्वभावोन्मुक्त होता है । जो स्वभाव की दृष्टता प्राप्त कर लता है वह व्यवहार को पीका कर देता है । यद्यपि अभी व्यवहार का सर्वथा अभाव नहीं हुआ, किन्तु जैसे ० स्वभाव की ओर दृष्टता जाना है जैसे ० व्यवहार का अभाव होना जाता है ।

पशु को मात्र ज्ञान के ध्यान में लन से ही सम्यग्दर्शन नहीं हो जाता किन्तु ज्ञान के साथ वीर्य के उग्र और के बल की आवश्यकता है । यही ज्ञान और

वीर्य दोनों के बल को स्वभावोन्मुख करने की बात है । शुभ राग से मेरा स्वभाव भिन्न है, इसप्रकार आ जो ज्ञान है उस ओर वीर्य को टालते ही तत्काल सम्यग्दर्शन हो जाता है । यदि स्वभाव की रुचि करे तो वीर्य स्वभाव की ओर डले, किन्तु जिसके राग की पुष्टि और रुचिभाव है उसका व्यवहार की ओर का भुकाव दूर नहीं होता । जहाँ तक मान्यता में और रुचि के वीर्य में निरपेक्ष स्वभाव नहीं रुचता और राग रुचता है—वहाँ तक एकान्त मिथ्यात्व है ।

जीव अशुभ भाव को दूर करके शुभ भाव तो करता है परन्तु वह शुभ भाव में बर्तमानता है, यह स्थूल मिथ्यात्व है । जीव अशुभ को दूर करके शुभभाव करता है और शास्त्रादि के ज्ञान से यह भी समझता है कि शुभ राग से धर्म नहीं होता, तथापि मात्र चैतन्यस्वभाव की ओर का वीर्य न होने से उसके मिथ्यात्व रह जाता है । मात्र चैतन्यस्वभाव की ओर के बल से वर्तमान की ओर से हटना चाहिये, यही दर्शनविशुद्धि है । यहाँ ज्ञान की प्रगटता अथवा कृपाय की मन्दता या त्याग पर भार नहीं दिया किन्तु दर्शनविशुद्धि पर ही सम्पूर्ण भार है ।

जैसे किसी से सलाह पूछी और उसके कथन को ध्यान में भी रखा परन्तु उसके अनुसार मानने के लिए तैयार नहीं होता । तात्पर्य यह है कि उस बात पर ध्यान तो दिया किन्तु तदनुसार आचरण नहीं किया । इसीप्रकार शास्त्र के कथन से यह तो जान लिया कि निश्चय के आश्रय से मुक्ति और व्यवहार के आश्रय से बंध होता है, इसप्रकार उस सलाह को ध्यान में लेकर भी उसे नहीं माना । शास्त्ररहित दोनों पहलुओं को ध्यान में तो लेता है परन्तु मानता वही है जो उसकी रुचि में होता है, और रुचि तो अपने वीर्य में होती है, जिसमें भगवान अथवा शास्त्र का शत्रुत्व काम नहीं आता ।

उसे दिग्गुणिक का आशय तो ध्यान में आ जाता है कि 'भगवान यों कहना चाहते हैं' किन्तु उस ओर वह रुचि नहीं करता । क्षयोपशम भाव से

मात्र धारणा से ध्यान करता है, परन्तु वह यथाथतया रुचि से नहीं समझता ।
यदि यथाथतया रुचि से समझे तो सम्यग्दर्शन हुए बिना न रहे ।

स्वभाव की बात उस वतमान विकल्प के राग से भिन्न होता है । स्वभाव की रुचि के साथ जो जीव स्वभाव की बात को सुनता है वह उस समय राग से आणिक भिन्न होकर सुनता है । यदि स्वभाव की बात सुनत सुनत उठता जाये अथवा यह निश्चय आये कि यह तो कठिन मार्ग है और हमप्रकार स्वभाव की ओर अरुचि मालूम हो तो समझना चाहिए कि उस स्वभाव की अरुचि और राग की रुचि है क्योंकि वह यह मानता है कि राग में मेरा वीर्य काम कर सकता है, और रागरहित स्वभाव में नहीं कर सकता । यह भी उसे वतमान मात्र के लिए व्यवहार का पक्ष है । स्वभाव की बात सुनकर उस ओर महिमा लाकर हमप्रकार स्वभाव की ओर वीर्य का उल्लास होना चाहिए कि ' अहो ! यह तो मेरा ही स्वप्न बतला रहे है ' । किन्तु यदि यों माने कि ' यह काम मुझसे नहीं होगा ' तो समझना चाहिए कि वह वतमान मात्र के लिए राग के चक्कर में पड़ गया है और राग से प्रयत्न नहीं हुआ । हे भाई ! यदि तूने यह माना कि तुझसे राग का कार्य हो सकता है और राग से अलग होकर रागरहित ज्ञान का कार्य जा कि तूरा स्वभाव ही है तुझसे नहीं हो सकता तो समझना चाहिए कि त्रैकालिक स्वभाव की अरुचि होना से तुझे सुप्त रूप में राग के प्रति मिथ्या है—व्यवहार की पक्ष है और यही कारण है कि सम्यग्दर्शन नहीं होता ।

जहाँ रागरहित ह्यायकस्वभाव की बात आये वहाँ यदि जीव को ऐसा लग कि यह नाम कैसे होगा ' ? तो समझना चाहिए कि उमदा वीर्य व्यवहार में अटक गया है अर्थात् उसे स्वभाव की दृष्टि से सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता । जो सुप्त ज्ञानस्वभाव है उसकी मिथ्या छूटी कि राग की मिथ्या भा गई । जीव अभी निश्चय स्वभाव की अपूर्व बात को नहीं समझा और अज्ञान सिद्धि १ सिद्धि प्रकार से व्यवहार की रुचि रह गई है ।

प० जयचन्द्रजी श्री समयप्राप्त में कहते हैं कि प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादिकाल से ही विद्यमान है, और इसका उपदेश भी बहुधा सभी प्राणी परस्पर करते हैं, तथा जिनवाणी में शुद्धनय का हस्ता-बलम्बन समझ कर व्यवहार का उपदेश बहुत किया है किन्तु इसका फल संसार ही है। शुद्धनय का पक्ष कभी नहीं आया और उसका उपदेश भी विरल है—कचित् कचित् है, इसलिए उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का पक्ष मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानता से दिया है कि—“शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है, इसका आश्रय लेने से सम्यग्दृष्टि हुआ जा सकता है। इसे जाने बिना जीव जवत्क व्यवहार में मग्न है तवत्क आत्मा के ज्ञान—श्रद्धारूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता” ।

आत्मा के निश्चय स्वभाव की बात करने पर व्यवहार गौण हो जाता है, वहाँ यदि स्वभाव के कार्य के लिए वीर्य नकार करे और व्यवहार के लिए रुचि करे तो समझना चाहिए कि उसे स्वभाव की रुचि नहीं है, और स्वभाव की ओर की रुचि के बिना वीर्य स्वभाव में काम नहीं कर सकता, अर्थात् उसकी व्यवहार की दृढ़ता दूर नहीं होती ।

यह निश्चयनय व्यवहार का निषेध करता है यह बात ज्ञानियों ने बारबार कही है, उसमें व्यवहार के स्वरूप का ज्ञान भी उन्हीं के साथ आ जाता है। निश्चयनय जिस व्यवहार का निषेध करता है वह व्यवहार कौन सा है? कुदेव आदि की मान्यतारूप जो ज्ञान है, सो मिथ्यात्व पोषक है, उसका तो निषेध ही है, क्योंकि उसमें व्यवहारत्व भी नहीं है। कुदेव आदि की मान्यता को छोड़कर सच्चे देव, गुरु, शास्त्रों से जो बहा है, उसके ज्ञान को व्यवहार कहा गया है, और वह ज्ञान भी निश्चय सम्यग्दर्शन का मूलकारण नहीं है, इसलिए निश्चय स्वभाव के बल से उस व्यवहार का निषेध किया गया है। यहाँ पर गृहीतमिथ्यात्व की तो बात ही नहीं है, किन्तु यहाँ पर अदृष्टीत, सूक्ष्म मिथ्यात्वदशा में जो व्यवहार है उसका निषेध है। जो सच्चे दे, शास्त्र, गुरु के अतिरिक्त अन्य किसी कुदेव आदि को सत्यार्थरूप में

मानता है वह ज्ञान तो व्यवहार से भी बहुत दूर है। जिन निमित्तों की ओर से प्रति का उठाकर स्वभाव में टलना होता है वे निमित्त-व्याप्त हैं, यथा जिसे विवक नहीं है उसे स्वभाव का विवक तो हा ही नहीं सकता। और यह भी नियम नहीं है कि जा सच्य निमित्तों की द्वारा बुझता है उस स्वभाव का विवक होता है। किन्तु एसा नियम है कि जा निरवयव स्वभाव का माध्यम लता है उसे सम्यग्दान। मरय होता है, इसीनियम नियमनय से व्यवहारनय का नियम है।

प्रायः ही ओर का विकल्प स जो हान है सो व्यवहार है। उस हान का ओर में वाय का हानर उसे स्वभाव की ओर माडा जाता है। सत् के निमित्त का ओर का भाव स त्रिगा पुण्य-व्यथ होता है वैसा पुण्य मन्य निमित्तों का भुजाव से नहीं चपता अथात् लाकोत्तर पुण्य भी सत् व्यथ गुरु प्राय का विकल्प से हाता है। किन्तु वह जान अभी पर की ओर उ-सुम्ह है नियम स्वभाव की ओर उन्मुक्त नहीं है इसनियम उसका नियम है। जैसे पावन मनुष्य का हान नियमन होता है इसलिये उसका माता का माता का रूप म जानन का जा जान है वह भी मयथाय है, इसप्रकार मशानी का स्वभाव की ओर का नियमरदिन ज्ञान शक्ति हुए बिना नहीं रह सकता।

सर्व भावान का चयन की ओर का बुझाव है वह भी व्यवहार की ओर का बुझाव है। ज्ञानराग गमन में कथित जीवादि नवतत्त्वों की विकल्प स जो गथा भ्रम है सो पुण्य का कारण है क्योंकि उसमें भेद का और पर का लन है। परउक्त धम का कारण नहीं है। जो जीव निमित्त से अविन्द है किन्तु निमित्त की ओर से बनकर अभी स्वभाव की ओर नहीं बुझा उम नियम सम्यग्दान नहीं है।

मायाराग इत्यादि मत्त गार जीवादि नवतत्त्वों का स्वल्प और एवन्द्रियिक हत्त जीवनिहायों का प्रतिपत्तन धीतराग जिनगामन के अनिरिक मय शिती है ता है सो ही परन्तु धीतराग जिनगामन में कह अनुसार गत्तों का सव्या हान पर जीवादि नवतत्त्वों का दयार्थ भदा करे और एव जीवनिहायों का मानक ननत्त एसा पन्थन वर सो वह ही पुण्य का कारण

है। और उसे व्यवहार दर्शन, ज्ञान, चारित्र (जो जीव निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट करेगा उसके लिए) कहा जाता है, किन्तु परमावेदष्टि उसे दर्शन, ज्ञान, चारित्र के रूप में स्वीकार नहीं करती, क्योंकि जिनशास्त्रन के व्यवहार तक आना सो धर्म नहीं है, किन्तु यदि निश्चय आत्मस्वभाव की ओर ढलकर उस व्यवहार का निषेध करे तो वह धर्म है। इसप्रकार निश्चयनय व्यवहार का निषेध करता है।

इस व्याख्यान में यह बताया है कि अज्ञानी को व्यवहार की सुद्धम पकड़ कौन रह जाती है? तथा निश्चयनय का आश्रय कैसे होता है? अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीवों को मिथ्यात्व क्योंकर रह जाता है तथा सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट होता है यह बताया है।

इस विषय से सम्बन्धित कथन मोक्षमार्ग प्रकाशक में भी आता है वह इस प्रकार है—“ सत्य को जानता है तथापि उसके द्वारा अपना अर्थार्थ प्रयोजन ही सिद्ध करता है इसलिए वह सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता ”।

ज्ञान के ज्योपशम में निश्चय-व्यवहार दोनों का ध्यान होता है, तथापि अपने बल को निश्चय की ओर ढालना चाहिये; उसकी जगह व्यवहार की ओर ढालता है इसलिए व्यवहार का पक्ष रह जाता है।

अज्ञानी व्यवहार-व्यवहार करता है और ज्ञानी निश्चय के आश्रय से व्यवहार का निषेध ही निषेध करता है।

“ श्री समयसारजी में कहा है कि—जिसे ऐसा आगम ज्ञान हो गया है कि जिसके द्वारा समस्त पदार्थों को हस्तामलकत्व जानता है, और यह भी जानता है कि इसका जानने वाला मैं हूँ परन्तु मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, इसप्रकार अपने को परद्रव्य से भिन्न केवल चैतन्यद्रव्य अनुभव नहीं करता ” अर्थात् स्व-पर को जानता हुआ भी अपने निश्चय स्वभाव की ओर नहीं मुक्ता, किन्तु व्यवहार की पकड़ में अटक जाता है, इसलिये वह कार्यकारी नहीं है, क्योंकि वह निश्चय का आश्रय नहीं लेता।

श्रुतपंचमी ।

ज्ञानस्वभावो ब्रह्मात्मा है वह ज्ञान अभी भी इंद्रियों के प्रबलता से जानता है या इंद्रियों के बिना ही ? यदि वर्तमान ज्ञान इंद्रिय से जानता है तो सामान्य ज्ञानस्वभाव के वर्तमान विरोध का अभाव होगा । यदि ज्ञान इन्द्रिय से जानता है तो उस समय जो सामान्य ज्ञान है उसका विरोध क्या होगा ? ब्रह्मात्मा का ज्ञान इंद्रिय से नहीं किन्तु सामान्य ज्ञान की विशेष अवस्था से जानता है । यदि वर्तमान में जीव विरोध ज्ञान से नहीं जानता है और इंद्रिय से जानता हो तो विरोध ज्ञान ने कौनसा कार्य किया ? ब्रह्मात्मा इंद्रिय से ज्ञान का कार्य करता ही नहीं है । ज्ञान स्वयमेव विरोधरूप ज्ञानन का कार्य करता है । निम्नदर्शा में भी जड-इन्द्रिय और ज्ञान एकत्रित होकर जानने का कार्य नहीं करते, परन्तु सामान्य ज्ञान जो ब्रह्मात्मा का विज्ञान स्वभाव है उसीका विरोधरूप ज्ञान वर्तमान ज्ञानन का कार्य करता है ।

प्रश्न—यदि ज्ञान का विरोध ही जानने का कार्य करना है तो फिर बिना इंद्रिय के जानने का कार्य क्यों नहीं होता ?

उत्तर—ज्ञान की उमप्रकार की विरोधता की योग्यता नहीं होती तब इंद्रिय नहीं हानी । और जब इंद्रिय हानी है तब ज्ञान जानने का कार्य का अवन भाव ही करता है क्योंकि इन पराधनम्बन रहित है । भोक्तृमा प्रकाशक पृष्ठ २६४ में कहा है कि 'निमित्त-नैमित्तिक संसर्ग का ज्ञान करना फलिय ' यह उगी का विरोध पत्र रहा है । इंद्रिय के दात हुए जी इन स्वतंत्ररूप से अपनी अवस्था से जानता है । यदि यह माना जायगा कि

ज्ञान इन्द्रिय से जानता है तो उमङ्ग अर्थ यह होगा कि ज्ञान का विशेष स्वभाव काम नहीं करता। और गेमा होने पर विना विशेष के सामान्य ज्ञान का ही अभाव हो जायगा। इसलिये यह निश्चय हुआ कि ज्ञान इन्द्रिय से नहीं जानता। अल्पज्ञान जब अपने द्वारा जानता है तब अनुकूल इन्द्रिया उपस्थित होती हैं, किन्तु ज्ञान उनकी सहायता से नहीं जानता। इसप्रकार जान लेना ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ज्ञान है। किन्तु यदि यह माना जायगा कि ज्ञान इन्द्रिय से जानता है तो वह ज्ञान मिथ्याज्ञान होगा। क्योंकि इस सामान्यता में निमित्त और उपादान एक हो जाता है।

आचार्यदेव शिष्य से पूछते हैं कि यदि जीव ने इन्द्रिय द्वारा ज्ञान प्राप्त किया तो सामान्य ज्ञान ने कौनसा कार्य किया? उस समय तो उमङ्ग अभाव ही मानना होगा न ?

शिष्य ने उत्तर देते हुए कहा कि भले ही ज्ञान-विशेष नहीं हो तो भी ज्ञान सामान्य तो त्रिकाल में रहेगा ही? और जानने का काम इन्द्रिय से होगा। ऐसा होने से ज्ञान का नाश नहीं होगा-अभाव नहीं होगा।

आचार्यदेव का उत्तर—निर्विशेष सामान्य तो 'स्वर्गोश के सींग' जैसा (अभावस्वरूप) है। विना विशेष के सामान्य हो ही नहीं सकता। इस लिये निर्विशेष सामान्यज्ञान मानने में सामान्य का नाश या अभाव हो जायगा, इसलिये यदि यह माना जाय कि विशेष 'ज्ञान' से ही 'ज्ञानस्वरूप' कार्य होता है तो ही सामान्य ज्ञान का अस्तित्व रह सकेगा।

ज्ञानस्वभाव राग और निमित्त के अवलम्बन से रहित है, और विशेष ज्ञान सामान्यज्ञान में से ही आता है, ऐसा जानकर उसकी श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता करना यही धर्म है।

यदि ज्ञान इन्द्रिय से जानता है तो फिर उसका वर्तमान कार्य कहाँ गया? यदि इन्द्रिय की उपस्थिति में ज्ञान इन्द्रिय के कारण जानता है तो उस समय सामान्य ज्ञान विशेष पर्यायरहित कहलाया, किन्तु विना विशेष के सामान्य तो होना नहीं है। जहाँ सामान्य होगा वहाँ उसका विशेष होगा ही।

अब प्रश्न यह होता है कि वह विशेष सामान्यज्ञान से होता है या निमित्त से ? विशेषज्ञान निमित्त का लेकर तो हुआ नहीं है किन्तु सामान्य स्वभाव से हुआ है । विशेष का कारण सामान्य है निमित्त उसका कारण नहीं है । यदि यह अगत या पूर्णतः निमित्त या कार्य माना जाय तो निमित्त जो परद्रव्य है वह परस्पररूप ज्ञान हो जायगा । आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्थिर है वह सामान्य और वर्तमान कार्यरूप ज्ञान का विशेष है । सामान्यज्ञान का विशेष स्थिर ज्ञानस्वभाव का परिणामन या ज्ञान की वर्तमान दशा (पराय) बुद्ध भी वही वह सब एक ही है ।

आत्मा का स्वभाव ज्ञान है, वह केवल जानने का ही काम करता है । शब्द को रूप को या किसी को भी जानने के लिये ज्ञान एक ही है ज्ञान में कोई अंतर नहीं हो जाता । आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्वयमेव है वह किसी क निमित्त से नहीं है । आत्मा का जो प्रैमालिक ज्ञानस्वभाव है वह अपने आप ही विशेषरूप कार्य करता है । आत्मा इन्द्रिय से जानता ही नहीं वह ज्ञान की विशेष अरुह्या से ही जानता है । सामान्यज्ञान स्वयं परिणामन करके विशेषरूप होता है वह विशेषरूप जानने का कार्य करता है । यह मानना अर्थ है कि ज्ञान दूसरे के अवलम्बन से जानता है । ज्ञान स्वावलम्बन से जानता है इस प्रकार की धृष्टा-ज्ञान और स्थिरता धर्म है ।

यथा परावलम्बन रहित ज्ञान की स्वाधीनता बनाई गई है । यह अयधवला शास्त्र की विशेषता है । और भी अनेक बातें हैं जिसमें से यह एक विशेष है ।

मेरे ज्ञान का परिणामरूप अतन उसका अतनरूप विशेष व्यापार (उपयोग) मेरे द्वारा होता है उसे किसी दूसरे निमित्त की या परद्रव्य की आवश्यकता नहीं है अर्थात् ज्ञान कभी भी स्वाधीनता से इन्द्रिय परावलम्बन में नहीं जाता । इसलिये यह ज्ञान स्वयं समाधान और सुखस्वरूप है । ज्ञान का स्वामी स्वभाव होने से ही निगोह से लेकर सिद्ध जीवों तक सबको ज्ञान हाता है परन्तु जगत् हा रहा है वगैरे अज्ञानी नहीं मानता, इसलिये इसकी मान्यता में निगोह माना है ।

सभी जीवों का सामान्य ज्ञानस्वभाव है, उस ज्ञान का विशेष कार्य अपने सामान्य स्वभाव के अवलम्बन से ही होता है। इसलिए राग या पर निमित्त के अवलम्बन के बिना ही ज्ञान कार्य करता है, अतः ज्ञान राग या मंगल से रहित है।

आज (श्रुतपंचमी) से २००० वर्ष पहले मानवें-द्वे गुणस्थान में मूलते हुये महान् संत मुनियों ने-आचार्य पुण्ड्रिक और भूतवलि ने (ज्ञान प्रभावना का विकल्प उठते ही) महान् परमागम शास्त्रों (पद्म खगडागम) की रचना करके अंजलेश्वर में उत्साहपूर्वक श्रुतपूजा की थी। उस श्रुतपूजा का मांगलिक दिन ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी है।

मेरा ज्ञानस्वभाव सदा स्थिर रहे, मेरे ज्ञान की अदृष्ट धारा बहती रहे, अर्थात् केवलज्ञान उत्पन्न हो; इसप्रकार वास्तव में अंतरंग में पूर्णता की भावना उत्पन्न होने पर, उन्हें बाहर ऐसा विकल्प उठा कि श्रुतज्ञान-आगम स्थिर बना रहे, यह विकल्प उठते ही महान् परमागम शास्त्रों की रचना की, और उनकी श्रुतपूजा की, वही मंगल दिन आज (ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी) है। वास्तव में दूसरे के लिये भावना नहीं है, किन्तु अपने ज्ञान की अदृष्ट धारा बहने की भावना है। और तब इन शास्त्रों की रचना हुई है। इस शास्त्रों में अनेक बातें हैं, उनमें से आज मुख्य दो विशेष बातें कहना हैं।

ज्ञान इन्द्रिय से नहीं जानता। यदि ज्ञान बिना कार्य अर्थात् विशेष के बिना रहे, तो वर्तमान विशेष के बिना सामान्य किसे जानेगा? यदि विशेष न हो तो सामान्यज्ञान ही कहाँ रहा? यदि वर्तमान पर्यायरूप विशेष को नहीं मानेंगे तो 'सामान्य ज्ञान है' इसका बिना विशेष के निर्णय कौन करेगा? निर्णय तो विशेष ज्ञान करता है। वर्तमान विशेषज्ञान (पर्याय) के द्वारा परावलम्बन रहित सामान्य ज्ञान स्वभाव जैसा है वैसा ही जानना, इसीमें धर्म का समावेश हो जाता है।

ज्ञान राग को जानता है, पर को जानता है, इन्द्रिय को जानता है, परन्तु वह किसी को अपना नहीं मानता, ज्ञान का ऐसा स्वभाव है। जो विकार को अथवा

पर को अपना नहीं मनाता, उसे -टुम नहीं होता । मेरे गान को कोई परावलम्बन नहीं है ऐसे स्वामीन स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता कर तो उस स्वभाव में शक या दुःख हो ही नहीं सकता । शक्य कारण यह है कि ज्ञानस्वभाव स्वयं मुख्यरूप है ।

निगोद से लेकर समस्त जीवों में कोट भी जीव इन्द्रिय से नहीं जानता । जिसे सबसे अल्प ज्ञान है ऐसा निगोदिया जीव भी स्पर्शन इन्द्रिय से नहीं जानता किन्तु वह अपने सामान्य ज्ञान के परिष्कृत से होन वाला विशेष ज्ञान के द्वारा जानता है । वह था मानता है कि सुमे इन्द्रिय से ज्ञान हुआ है । परन्तु जब जीव को सामान्य ज्ञान स्वभाव के अवलम्बन से (सामान्य की ओर एकाग्रता होने से) विशेष ज्ञान होता है तब वह सम्यक् मतिरूप होता है और उस मति की ज्ञानरूप अंग मतिना परावलम्बन ज्ञानस्वभाव की पूर्णता की प्रत्यक्षता आती है ।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव किमा मयोग के कारण न नहीं है, यदि ऐसी स्वामीन ज्ञानस्वभाव को न जाने तो धर्म नहीं होता । धर्म कहीं बाह्य में नहीं किन्तु अपना गानाद स्वभाव ही धर्म है इसमें तो समस्त शत्रुओं का रहस्य आजाता है । यह बात भी इसमें आगई कि कोई किसी का पुत्र भी करने को मम नही है । जन्म-इन्द्रिय आत्मा के ज्ञान की अवस्था नहीं करती और आत्मा का ज्ञान पर का पुत्र नहीं करता, इस प्रकार ज्ञानस्वभाव की स्वतंत्रता सिद्ध होगई ।

सभी सम्यक् मतिमानियों का ज्ञान विना निमित्त के अरलंबन सामान्य स्वभाव के अरलंबन में काय करता है इसलिये सब निमित्तों के अभय में-संपूर्ण समहाय होकर सामान्य स्वभाव के अरलंबन से विगौरूप जा करल ज्ञान पूर्ण प्रपन्न है उसका निगय वर्तमान मतिज्ञान के अंतःकारा उसे हो सकता है । यदि पूर्ण समहाय ज्ञानस्वभाव मतिज्ञान के निगय में न आय तो वर्तमान विराय अरलंबन ज्ञान (मतिज्ञान) पर का अरलंबन के विना प्रपन्न है यह विषय भी न ही । सामान्य स्वभाव के आश्रय से जो

विशेषरूप मतिज्ञान प्रगट हुआ है उस मतिज्ञान में केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। जो अंश प्रगट हुआ है वह अंगी के आधार के बिना प्रगट नहीं हुआ है, इसलिये अंगी के निर्णय के बिना अंग का निर्णय नहीं होता।

अहो ' श्रुत पंचमी के दिन इस जयध्वजा में जो केवलज्ञान का रहस्य भरा गया है उसकी मुख्य दो विशेषताएँ हैं, जिनकी स्पष्टता प्रगट होती है— (१) अपने ज्ञान की विशेषरूप अवस्था परावलंबन के बिना स्वाधीन भाव से है (२) उम स्वाधीन अंश में नमस्त केवलज्ञान प्रत्यक्ष है, यह दो मुख्य विशेषताएँ हैं।

सामान्य स्वभाव की प्रतीति करता हुआ जो वर्तमान निर्मल स्वावलंबी ज्ञान प्रगट हुआ वह साधक है, और वह पूर्ण साधकरूप केवलज्ञान को प्रत्यक्ष जानना हुआ प्रगट होता है। वह साधक ज्ञान स्वाधीनभाव से अपने कारण से, भीतर के सामान्य ज्ञान की शक्ति के लक्ष्य से विशेष-विशेषरूप में परिणमन करना हुआ साध्य केवलज्ञान के रूप में प्रगट होता है, उसमें कोई बाह्यावलंबन नहीं है, किन्तु सामान्य ज्ञानस्वभाव का ही अवलंबन है।

इसे जानना ही धर्म है। आत्मा का धर्म आत्मा के ही पास है। अशुभभाव से बचने के लिये शुभभाव होता है, उसे ज्ञान जानलेता है, किन्तु उसका अवलंबन ज्ञान नहीं मानता अर्थात् सर्व निमित्त के बिना पूर्ण स्वाधीन केवलज्ञान का निर्णय करता हुआ और प्रतीति में लेता हुआ स्वाश्रित मति-ज्ञान सामान्य स्वभाव के अवलंबन से प्रगट होता है, इसप्रकार ज्ञान का कार्य परावलंबन से नहीं होता, किन्तु स्वाधीन स्वभाव के अवलंबन से होता है। इसमें ज्ञान की स्वतंत्रता बताई है।

ज्ञान की भाँति श्रद्धा की स्वतंत्रता।

आत्मा में श्रद्धागुण त्रिकाल है। सामान्य श्रद्धागुण का जो विशेष है सो सम्यग्दर्शन है। श्रद्धागुण का वर्तमान यन्त्रि देव, शास्त्र, गुरु इत्यादि पर के आश्रय से परिणमन करे तो उस समय श्रद्धागुण ने कौनसा विशेष कार्य

किया। अर्थात् सामान्य गुण है उसका विरोध सामान्य के अवलम्बन से ही होता है। सम्यग्दानरूप विरोध पर क अवलम्बन से काय नहीं करता किन्तु सामान्य अर्थात् के अवलम्बन से ही उसका विरोध प्रगट होना होता है। सम्यग्दान उस अर्थात्गुण की विरोध दशा है। अर्थात् गुण है और सम्यग्दान पयाय है। अर्थात् गुण क अवलम्बन से सम्यग्दानरूप विरोध दशा प्रगट होती है। यदि दश शास्त्र, गुरु इत्यादि पर के अवलम्बन से अर्थात् का विरोध कार्य होता हा ता सामान्य अर्थात् का उस समय विरोध क्या है? विरोध क बिना सामान्य इत्यादि नहीं होता। आत्मा की अर्थात् की वर्तमान अवस्था क रूप में जो काय होता है वह वैकालिक अर्थात् क नाम के गुण का है, वह काय किसी क पर क अवलम्बन से नहीं किन्तु सामान्य का विरोध प्रगट हुआ है। विरोध क बिना सामान्य अर्थात् हो ही नहीं सकती।

आनन्दगुण की स्वाधीनता।

ज्ञान-अर्थात् गुण क अनुसार आनन्दगुण क सम्बन्ध में भी यही बात है वह आत्मा का वर्तमान आनन्द यदि पैसा इत्यादि पर के कारण से परिणमन कर ता उस समय आनन्दगुण न स्वयं वर्तमान विरोध कौनसा काय किया है। यदि पर से आनन्द प्रगट हुआ ता उस समय आनन्दगुण का विरोध काय नहीं गया? अज्ञानी न पर में आनन्द माना उस समय भी उसका आनन्दगुण स्वाधीनतापूर्वक काय करता है। अज्ञानी न आनन्द का वर्तमान काय उल्लासना अर्थात् आनन्दगुण का विरोध उसे दुस्वरूप परिणमित होता है। आनन्द पर से प्रगट नहीं होता किन्तु संयोग और निमित्त क बिना आनन्द नाम क सामान्य गुण के अवलम्बन से वर्तमान आनन्द प्रगट होता है। इनक सम्बन्धन पर लक्ष्य का भार पर के ऊपर न जाकर सामान्य स्वभाव पर जाता है और उस सामान्य क अवलम्बन से विरोधरूप आनन्दरूप प्रगट हानती है। सामान्य आनन्द स्वभाव क अवलम्बन से प्रगट हुआ आनन्द का अंग पूरा आनन्द ही प्रतीति की लक्ष्य प्रगट होता है। यदि आनन्द के अंग में पूरा ही प्रतीति न हो ता अंग काया नहीं के ?

चारित्र्य वीर्य इत्यादि सर्व गुणों की स्वाधीनता ।

इसीप्रकार चारित्र्य वीर्य इत्यादि समस्त गुणों का विशेष कार्य सामान्य के अवलम्बन से ही होता है । आत्मा का पुरुषार्थ यदि निमित्त के अवलम्बन से कार्य करता हो तो अन्तरंग के सामान्य पुरुषार्थ स्वभाव ने क्या किया ? क्या सामान्य स्वभाव विशेष के बिना ही रहा ? विशेष के बिना सामान्य रहता हो सो तो बन नहीं सकता । प्रत्येक गुण का वर्तमान (विशेष अवस्था-रूप कार्य) सामान्य स्वभाव के आश्रय से प्रगट होता है । कर्म पुरुषार्थ रोक्षता है यह बात ही मिथ्या होने से खडित होगई । किसी भी गुण का कार्य यदि निमित्त के अवलम्बन से अथवा राग के अवलम्बन से होता हो तो उस समय सामान्य स्वभाव का विशेष कार्य न रहे और यदि विशेष न हो तो सामान्य गुण ही सिद्ध नहीं होते । सभी गुण त्रिकाल हैं, उनका कार्य किसी निमित्त अथवा राग के अवलम्बन से ज्ञानियों के नहीं होता, किन्तु अपने ही सामान्य के अवलम्बन से होता है । यह स्वधीन स्वरूप जिसके जन्म गया उसे पूर्ण की प्रतीतियुक्त गुण का अरा प्रगट होता है । जिसके पूर्ण की प्रतीति सहित ज्ञान प्रगट होता है उस की अल्पकाल में मुक्ति अवश्य होजाती है । जिस सामान्य के बल से एक अरा प्रगट हुआ उसी सामान्य के बल से पूर्णदशा प्रगट होती है । विकल्प के कारण सामान्य विशेष की अवस्था नहीं होती । यदि विकल्प के कारण विशेष होता हो तो विकल्प का अभाव होने पर विशेष का भी अभाव हो जाय । वर्तमान विशेष सामान्य से ही प्रगट होता है, विकल्प से नहीं; इसे समझना ही धर्म है । प्रत्येक द्रव्य की स्वाधीनता की यह स्पष्ट बात है दो और दो चार जैसी सीधी सरल बात है, उसे न समझकर उसकी जगह यदि जीव इसप्रकार पराश्रयता माने कि सब कुछ निमित्त से होता है और एक दूसरे का करता है तो यह सब मिथ्या है, यह उसकी नृत्तभूल है । यदि पहले ही दो और दो तीन मानने की भूल होगई हो तो उसके बाद की भी सभी भूल होती जायगी । इसीप्रकार मूल वस्तुस्वभाव की मान्यता में जिसकी भूल हो उसका सब मिथ्या है ।

स्वाधीनता से प्रगट हुआ अशा पूर्ण को प्रत्यक्ष करता है।

पदव्य जगत में भल हों, पर निमित्त भल हा जगत में सर्व वस्तुमा
 १ अस्तित्व ह किन्तु वह कोई वस्तु मेरी विरोध अवस्था करन क निय
 मय नहीं है, मेरे आत्मा क सामान्य स्वभाव का अवलम्बन करके मेरी विरोध
 अवस्था होनी ह—यह स्वाधीन है। और यह स्वाधीनता से प्रगट हान घाटा
 विरोध हा पूण विरोधरूप फलज्ञान का कारण ह। जो विरोध प्रगट होता ह
 ह पूण को प्रत्यक्ष करता हुआ प्रगट होता है।

प्रश्न—वर्तमान अशा पूर्ण-प्रत्यक्ष कैसे होता ह ?

उत्तर—जहाँ विरोध का पर का अवलम्बन नहीं रहता और मात्र सामान्य
 हा अवलम्बन रहता ह वहाँ प्रत्यक्ष होता है यदि निमित्त का धन करो तो
 राक्ष में आदगा किन्तु नहीं निमित्त अवस्था विचाररहित मात्र सामान्य स्व
 भाव का अवलम्बन ह वहीं विरोध प्रत्यक्ष ही होता ह, अशा में पूर्ण-प्रत्यक्ष
 ही होता ह। यदि अशा में पूण-प्रत्यक्ष न हा तो अशा ही विद्वान हा।
 यह अशा है ' यह भी निश्चय हो सकता ह जब अशा प्रत्यक्ष हा।
 यदि अशा अभाव पूण प्रत्यक्ष न हो तो अशा भी विद्वान न हा।

मतिज्ञान और धुतगान भी वास्तव में तो सामान्य क अवलम्बन हान क
 कारण प्रगट है। मतिज्ञान और धुतगान को जापगत कटाट जो पद ल पर जो
 जानते समय शक्ति का निर्मित है ' इसप्रकार निर्मित-निमित्त अशा का
 अशा का अशा क अशा वह अशा दिया है किन्तु अशा को जानन पर तो यह
 अशा भी प्रत्यक्ष ही है।

पदव्यजन स्थित सामान्य क अवलम्बन से अशा विरोध अशा अशा है,
 इसप्रकार अशा के अशा क अवलम्बन का प्रतीति जन अशा अशा अशा अशा
 अशा को जानते अशा ना अशा क अवलम्बन से अशा अशा है अशा अशा
 अशा में तो अशा क अवलम्बन ही है। अशा अशा अशा अशा अशा अशा
 अशा अशा प्रतीति में अशा अशा अशा अशा अशा अशा अशा है।

जिम ज्ञान में यह निश्चय किया कि 'यह खंभे का एक डोर है' उस ज्ञान में सारा खंभा ध्यान में आ ही गया है, जहां यह निश्चय किया कि 'यह पृष्ठ समयसार का है' वहां सारा समयसार ग्रंथ है और उसका पृष्ठ है, इस प्रकार ज्ञान के निर्णय में पूर्ण और अर्ण दोनों आगये । 'यह समयसार का पृष्ठ है' यह कहने पर यह भी निश्चय हो गया कि उसके आगे पीछे के सभी पृष्ठ किमी अन्य ग्रंथ के नहीं है किन्तु समयसार के ही हैं, इस प्रकार सारा ग्रंथ ध्यान में आ जाता है । सारे ग्रंथ को ध्यान में लिये बिना यह निश्चय नहीं हो सकता कि 'यह अंश उस ग्रंथ का है ।' इसी प्रकार 'यह मतिज्ञान उस केवलज्ञान का अंश है' इस प्रकार समस्त केवलज्ञान प्रत्यक्ष लक्ष्य में आये बिना निश्चित नहीं हो सकता । यदि कोई कहे कि ज्ञान अनुद्वेषित अन्य अंश तो अभी शेष है न ? उसका समाधान—यही सारे अक्षयवी-पूर्ण की बात है, दूसरे अंशों की बात नहीं है । यहाँ पर अंश के साथ अंगी का अभेद बताया है । 'यह ज्ञान का भाग है वह पूर्ण ज्ञान का अंश न हो तो वह अंश है' यह कहाँ से निश्चय किया ? वर्तमान अंश के साथ अंगी अभिन्न है, वर्तमान अंश में सारा अंशी अभेदरूप में लक्ष्य में आगया है, इसलिये जीव यह प्रतीति करता है कि यह अंश इस अंगी का है ।

वर्तमान अंश और पूर्ण अंगी का अभेद भाव है । यहाँपर दूसरे अंश के भेद भाव की बात नहीं ली गई । अंगी में सब अंश आगये हैं । यहाँ पर मतिज्ञान और केवलज्ञान का अभेद भाव बताया है । मतिज्ञान अंश है और केवलज्ञान अंगी है । अंश-अंगी अभिन्न हैं, इसलिये यह समझना चाहिये कि मतिज्ञान में केवलज्ञान प्रत्यक्ष आजाता है ।

स्वार्थतना की प्रतीति में केवलज्ञान ।

आचार्य भगवान ने आत्मा को स्वाधीन पूर्ण स्वभाव बताया है । तू आत्मा है, तेरा ज्ञानस्वभाव है, उस ज्ञान स्वभाव की विशेष अवस्था तेरे अपने सामान्य स्वभाव के अवलंबन से होती है सामान्य स्वभाव के अवलंबन से विशेषरूप जो मतिज्ञान प्रगट हुआ है वह पूर्ण केवलज्ञान के साथ अभेद-स्वभाव जाता है । निमित्त और मग के अवलंबन से गहित सामान्य के

अवलम्बन वाला ज्ञान स्वाधीन स्वभाव वाला है। मतिज्ञान और केवलज्ञान के बीच के भेद को वह नहीं गिनता जिसके यह बात जन्म जाती है उसे केवलज्ञान के बीच छोड़ विष्णु नहीं मान सकता यह तीर्थंकर केवलज्ञानी की वाणी केवलज्ञान का घोष करती आई है। आचार्यदेवों के केवलज्ञान का ही घोष हो रहा है। बीच में भ्रम प्रदूषण होता है और केवलज्ञान में बाधा आती है यह जान यहाँ विष्णुल गौण कर दी गई है। यहाँ तो सामान्य स्वभाव के लक्ष्य में जो भ्रम प्रकट हुआ है उस भ्रम के साथ ही केवलज्ञान भ्रमेद है इस प्रकार केवलज्ञान की बात की गई है। केवलज्ञानियों की वाणी केवलज्ञान का घोष करती हुई आई है और केवलज्ञान के उत्तराधिकारी आचार्यों ने यह बात परागम शास्त्रों में समझ की है। तब भी केवलज्ञान को प्राप्त करने की तैयारी में है तब भ्रम स्वभाव के चलपर है। भ्रमने स्वभाव की प्रतीति के बिना पूर्ण-प्रत्यक्ष का विरवाग प्राप्त नहीं होता।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्वाधीन है, कभी भी बिना विरोध के ज्ञान नहीं होता। जिस समय विरोध में थोड़ा ज्ञान था वह भ्रम से ही था और जो विरोध में पूरा जाता है वह भी भ्रम से ही होता है उसमें किसी पर का कारण नहीं है। इस प्रकार जीव यदि ज्ञानस्वभाव की स्वाधीनता को जान ले तो वह पर में न देखकर भ्रम में ही लक्ष्य करके धर्म का पुरुषार्थ करने लगे।

सामान्य किसी भी समय निर्विरोध नहीं जाता प्रत्यक्ष समय सामान्य का विरोध काय तो होता ही है। चाहे जितना छोटा कार्य हो तो भी वह सामान्य के परिणाम से होता है। निषेध से लेकर केवलज्ञान तक आत्मा की सब परिणति भ्रम से ही है इस प्रकार जहाँ स्वतंत्रता की ध्वनि अपनी प्रतीति में आती है वहीं परावलम्बन दूर हो जाता है। मेरी परिणति मुझसे ही कार्य कर रही है इस प्रकार भी प्रतीति में भावपूर्ण और निमित्त के भ्रम लेखन का घुटा हो जाता है।

आत्मा के अनंतगुण स्वाधीनतया कार्य करते हैं। कर्ता, भोक्ता, ग्राहकता, स्वामित्व इत्यादि अनंतगुणों की वर्तमान परिणति-निमित्त और विकल्प के आश्रय के बिना अपने आप ही प्रगट होती है। जो यह मानता है वह जीव को गुण के अवलंबन से प्रगट हुआ अश पूर्णता को प्रत्यक्ष करनेवाले अंश के साथ ही पूर्ण को अभिन्न मानता है एव अग्र और पूर्णता के बीच के भेद को दूर कर देता है। इसलिये जो भाव प्रगट होता है वह भाव यथार्थ और अप्रतिहत भाव है।

इस बात से इन्कार करने वाला कौन है ? यदि कोई इन्कार करे तो वह अपना इन्कार कर सकता है, इस बात से इन्कार करने वाला कोई है ही नहीं। निर्ग्रथ संत मुनि ऐसे अप्रतिहत भाव से उद्यत होते हैं कि जिससे ज्ञान की धारा में भंग पड़े बिना निर्विघ्नतया केवलज्ञानरूप हो जाते हैं। निर्ग्रथ आचार्यों ने इस दिन (श्रुतपंचमी) को बड़े ही उत्सवपूर्वक मनाया था।

मेरे ज्ञान के मति श्रुत के अश स्वतंत्र हैं, उन्हें किसी पर का अवलंबन नहीं है, ऐसी प्रतीति होने पर किसी निमित्त का अथवा पर का लक्ष नहीं रहता। सामान्य स्वभाव की ओर ही लक्ष रहता है। इस सामान्य स्वभाव के बल से जीव को पूर्णता का पुरुषार्थ करना होता है। पहले पर के निमित्त से ज्ञान का होना माना था तब वह ज्ञान पर लक्ष में अटक जाता था किन्तु स्वाधीन स्वभाव से ज्ञान होता है ऐसी प्रतीति होने पर ज्ञान को कहीं भी प्रतिरोध नहीं रहता।

मेरे ज्ञान में पर का अवलंबन अथवा निमित्त नहीं है अर्थात् केवलज्ञान वर्तमान प्रत्यक्ष ही है। इसप्रकार सामान्य स्वभाव के कारण से जो ज्ञान परिणमित होता है उस ज्ञानधारा को तोड़ने वाला कोई है ही नहीं। अर्थात् आश्रय से जो ज्ञान प्रगट हुआ है वह केवलज्ञान की ही पुकार करता हुआ प्रगट हुआ है। वह ज्ञान अल्पकाल ही में केवलज्ञान को अवश्य प्राप्त करेगा ज्ञान के अवलंबन से ज्ञान कार्य करता है ऐसी प्रतीति में समस्त केवलज्ञान समा जाता है।

पहले ज्ञान की अवस्था अल्प थी परन्तु जब वाणी सुनी तब ज्ञान बढ़ा किन्तु वह वाणी के सुनने से बढ़ा है यह बात नहीं है लकिन जहाँ ज्ञान की अवस्था बनी वहाँ सामान्य स्वभाव की ज्ञान ही अपने पुरुषार्थ से कर्माय को कम करके विशेषरूप में हुआ है अर्थात् अपने कारण से ही वाता हुआ है ऐसी प्रतीति होने पर स्वतंत्र ज्ञानस्वभाव के बल से पूर्णज्ञान का पुरुषार्थ करना चाहिये। ज्ञानियों को स्वतंत्र ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के बल से वर्तमान हीनदशा में भी कवलज्ञान प्रत्यक्ष है कवलज्ञान प्रतीति में आगया है। ज्ञानी के स्वतंत्र ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं होती इसलिये उसे यह ज्ञान नहीं होता कि पूरी अवस्था बेगी होती है तथा उसे पूर्णशक्ति की भी प्राप्ति नहीं होती।

अनेक प्रकार के निमित्त बदलते जाते हैं और उसने निमित्त का अवलंबन माना है, इसलिए उसके निमित्त का लक्ष्य बना रहता है तथा स्वतंत्र ज्ञान की प्रत्यक्षता की श्रद्धा उसके नहीं जमती। 'मेरा वर्तमान ज्ञान मुझमें होता है, मेरी शक्ति पूर्ण है और इस पूर्णशक्ति के माध्यम से पुरुषार्थ के द्वारा पूर्णज्ञान प्रगट होता है,' ज्ञानी को इसप्रकार की प्रतीति है। जिस ज्ञान के भय से ज्ञानस्वभाव की प्रतीति की वह ज्ञान कवलज्ञान को प्रत्यक्ष करता हुआ ही प्रगट हुआ है अर्थात् बीच में जो शेष है, भेद बना हुआ है वह दूर होकर ज्ञान पूर्ण ही होता है। इसप्रकार सामान्य ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करने पर पूर्ण में लक्ष्य लेता हुआ जो विशेष ज्ञान प्रगट हुआ है वह बीच के भेद का (मति और कवलज्ञान के बीच के भेद को) उठाता हुआ पूर्ण के माध्यम ही भेद भाव को करता हुआ प्रगट हुआ है। बीच में एक भी भय नहीं है। अवतार भी जिसके है वर्तमान में कवलज्ञान प्रत्यक्ष है उस बल पर बीच में जो एकाध भय है उससे आशय ने इन्कार किया है। आचार्य वेद ने अनुत्तया कवलज्ञान की ही बात कही है। यह बात जिसके जम जाती है उसे भय कदापि नहीं होता।

द्रव्यदृष्टि

“ प्रत्येक द्रव्य पृथक्-पृथक् है, एक द्रव्य का दूसरे के साथ वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं है, ” इस प्रकार जो यथार्थतया जानता है उमनी द्रव्यदृष्टि होती है, और द्रव्यदृष्टि के होने पर सम्यक्दर्शन होता है, जिसके सम्यक्दर्शन होता है उसे मोच हुए विना नहीं रहता, इसलिये सर्वप्रथम वस्तु का स्वरूप जानना आवश्यक है ।

प्रत्येक द्रव्यपृथक्-पृथक् है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता, ' ऐसा मानने पर वस्तुस्वभाव का इसप्रकार ज्ञान हो जाता कि-आत्मा सर्व परद्रव्यों से भिन्न है, तथा प्रत्येक पुद्गलपरमाणु भिन्न है, दो परमाणु मिलकर एकरूप होकर कभी कार्य नहीं करते किन्तु प्रत्येक परमाणु भिन्न ही है ।

जीव के विकारभाव होने में निमित्तरूप विकारी परमाणु (स्कन्ध) हो सकते हैं, किन्तु द्रव्य की अपेक्षा से देखने पर प्रत्येक परमाणु पृथक् ही है, —दो परमाणु कभी भी नहीं मिलते और एक पृथक् परमाणु कभी भी विकार का निमित्त नहीं हो सकता, अर्थात् प्रत्येक द्रव्य भिन्न है, ऐसी स्वभावदृष्टि से कोई द्रव्य अन्य द्रव्य के विकार का निमित्त भी नहीं है । इसप्रकार द्रव्यदृष्टि से किसी द्रव्य में विकार है ही नहीं, जीवद्रव्य में भी द्रव्यदृष्टि से विकार नहीं है ।

पर्यायदृष्टि से जीव की अवस्था में रागद्वेष होता है और उसमें कर्म निमित्तरूप होना है, किन्तु पर्याय को गौण कणके द्रव्यदृष्टि से देखा जाये तो कर्म

कोई वस्तु ही नहीं रहा क्योंकि यह तो सङ्घट्ट है, और उसके प्रत्येक परमाणु पृथक्-पृथक् कार्य करते हैं इसलिये जीव के विकार का निमित्त कोई द्रव्य न रहा, अर्थात् अपनी क्षार से लिया जाय तो जीवद्रव्य में विकार ही नहीं रहा । इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य भिन्न है सूक्ष्म दृष्टि अर्थात् द्रव्यदृष्टि क हान पर राग-द्वेष की उत्पत्ति का कारण ही न रहा, अर्थात् द्रव्यदृष्टि में नीतरागभाव की ही उत्पत्ति रही ।

अवस्थादृष्टि सं-व्यायदृष्टि में अथवा दो द्रव्यों के संयोगी कार्य ही दृष्टि में राग-द्वेषादिभाव होते हैं । ' कर्म ' अनन्त पुद्गलों का संयोग है उस संयोग पर या संयोगी भाव पर लक्ष दिया कि राग-द्वेष होता है किन्तु यदि एतौ दृष्टि करे (वास्तव में अपने अंतर्योगी भाव-मन्वभाव का दृष्टि कर) कि संयोग अथवा प्रत्येक परमाणु भिन्न भिन्न है तो राग-द्वेष न हो किन्तु उस दृष्टि क क्षण से मोक्ष ही हो । इसलिये द्रव्यदृष्टि का अन्वयण परम कर्तव्य है ।



आभार प्रदर्शन

वस्तुविज्ञानसार की हिंदी तथा गुजराती आवृत्तियों की पांच-पांच हजार प्रतियां वितरण करने के लिये निम्नलिखित भाई बहिनों ने जो आर्थिक सहायता प्रदान की है, तदर्थ आभार

- १०००] श्री. वीरजीभाई वकील, जामनगर, के पुत्रों की ओर से
उनकी बहिन मणीबाई तथा रामबाई के स्मरणार्थ
- १०००] श्री. कालिदास राघवजी जसाणी, राजकोट
- १०००] सांघाण निवासी श्री. रतन बहिन, कच्छ
- १३००] श्री. गलालचन्द जेठाभाई पारेख, जामनगर
- १२५] श्री. हरगोवन देवचन्द मोदी, सोनगढ
- १०१] सेठ चुनीलाल हठीसग, जामनगर
- १०१] श्री. नर्मदा बहिन रणछोडदास, राजकोट
- १०१] श्री. कुसुम बहिन बहेचरदास, राजकोट
- १०१] श्री. छोटालाल नारणदास, नागनेशवाला
- १०१] श्री. छगनलाल लघुभाई चेलावाला, जामनगर

३६३०] कुल



